वर्ग-संघर्ष

आदि युग का वर्गहीन समाज

मानव सभ्यता के इतिहास में अब तक जो ऐतिहासिक खोज हुई है, उनसे आदि मानवों के जीवन का थोड़ा बहुत पता चलता है। पृथ्वी-तल पर मनुष्य पहलेपहल कब पैदा हुआ, इसका पता जावा-द्वीप में मिली एक हड्डी के आधार पर लगाया जाता है। अनुमान लगाया जाता है कि १० लाख वर्ष से पहले मनुष्य पृथ्वी-तल पर पैदा न हो पाया था। आज से १० लाख से ५ लाख वर्ष पूर्व तक मनुष्य अर्ध-मानवों से ज्यादा विकसित न हो पाए थे और शायद वही युग होगा, जिसमें वे पहाड़ों की कंदराओं में रहते, प्रायः नग्न रहा करते, और सारा काम धीरे-धीरे अपने हाथों से ही करने लगे थे।

जिस दिन से आदि मानव ने होश सँभाला, उसी दिन से हम उसे जीवन-मरण के बीच जूझते देखते हैं। प्रारंभिक अवस्था में उनकी यह लड़ाई प्रकृति और उसकी गोद में पलनेवाले गैर मानवों के बीच थी, क्योंकि उसी से उनको अपना भोजन छीनना था। उन दिनों न तो उनके पास आज-

जैसे हथियार थे, न रहने का घर। हाथ ही उनका एक-मात्र सहारा था, और उसी के द्वारा वे फल-मूल इकट्ठा करके अपनी पेट-पूजा किया करते थे। उनके पास न तो अपनी कोई निजी संपत्ति थी, और न कोई अपना घर ही था। आधुनिक अर्थ में परिवार-भावना भी न पैदा हो पाई थी और समाज भिन्न-भिन्न परिवार के रूप में न बँटने पाए थे। आदि मानवों में एक कुनबा होता था। मनुष्य को शुरू से ही हम एक दूसरे के साथ कुनबे में रहते पाते हैं, जिसका कारण साफ़ है। मनुष्य के बच्चे का लालन-पालन जानवरों के बच्चों से ज़्यादा सावधानी, देख-रेख और समय तक करना पड़ता है। साथ ही मनुष्य के बच्चे १५-१६ वर्ष तक ऐसे नहीं हो पाते कि वे अपने पर भरोसा करने लायक़ हो जायँ। ऐसी हालत में एक गिरोह में नर-नारियों का रहना संतान-पालन की दृष्टि से जरूरी हो जाता है। वह भोजन की खोज में जंगलों में घूमा करता और जो कुछ उसे मिल जाता, फल-मूल इत्यादि, उसे वह ज्यों-का-त्यों कच्चा ही एक साथ किसी पेड़ के नीचे बैठकर खा लिया करता था।

५ लाख वर्ष से ३ लाख वर्ष पूर्व तक की मानव सभ्यता का हमें थोड़ा-बहुत स्थायी सबूत मिलता है, यद्यपि उस सभ्यता को आधुनिक अर्थ में सभ्यता समझना ही हमारी सबसे बड़ी भूल होगी। उन दिनों पत्थर के हथियार काम में लाये जाते थे। इसका सबूत मिलता है। मनुष्य जंगली

अवस्थाओं में पहाड़ों की कंदराओं में रहा करते थे और पृथ्वी ही उनका बिस्तर हुआ करती थी। कहीं-कहीं जंगली जानवरों की खाल को भी पहनने के प्रमाण पाये जाते हैं।

इसी के ३ लाख से १५ हज़ार वर्ष पूर्व तक के ज़माने को आम तौर पर प्राचीन प्रस्तर-युग कहा जाता है। इस युग में मानव सभ्यता थोड़ी बहुत विकसित हो गई थी तथा तात्कालिक मनुष्य हमारे काफ़ी निकट आ गए थे। परंतु इस युग में भी पत्थर के हथियारों से काम लिया जाते देखते हैं। उन दिनों भी हथियारों के बनाने की कला न मालूम हो सकी थी। उन्हें पत्थर पर घिसकर नुकीला बनाना हमारे पूर्वजों ने न सीखा था। उनके हाथों को अब थोड़ी फ़ुरसत मिल गई थी, क्योंकि पहले जो काम हाथों से लिया जाता था, वही काम अब हथियारों से लिया जाने लगा। फिर भी वे खेती-बारी नहीं करते थे, परंतु जिस गुफा में रहते थे, उसमें उन्होंने थोड़ी बहुत चित्रकारी करनी शुरू कर दी थी।

इसी युग में अचानक मनुष्य ने आग का प्रयोग किया। शायद लकड़ियों या पत्थर में अचानक टक्कर लगने से आग पैदा हो गई हो और मनुष्य ने इसी से आग उत्पन्न करना सीख लिया हो।

नवीन प्रस्तर-युग अर्थात् इससे १५ हज़ार वर्ष से लेकर ६००० वर्ष पूर्व तक खेती-बारी और पशु-पालन की प्रथा प्रायः

व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। खेती की प्रथा शुरू होते ही लोगों को स्थान-विशेष से प्रेम होने लगा। स्वभावतः एक कुनबा एक जगह पर बसने लगा, और छोटी-छोटी बस्तियाँ बनने लगीं। शुरू-शुरू में नदियों के किनारे ही ऐसी बस्तियों के बसने के प्रमाण पाये जाते हैं। जो कुछ ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास मौजूद हैं, उनके द्वारा हम सबसे पहले भारत में सिंधु और गंगा की तराई में, नील नदी की तट-भूमि और मध्य एशिया में दजला और फुरात नदियों के किनारे-किनारे तथा चीन में ह्वाँग-हो के दोनों ओर लोग बसते पाये जाते हैं।

उन्हीं के आस-पास पुरानी सभ्यता के अवशेष भी पाये जाते हैं। कारण स्पष्ट है। सबसे पहले मनुष्य उन्हीं जगहों पर बसते थे, जहाँ उन्हें आसानी से पानी मिलता था तथा खाद्य पदार्थ और शिकार भी। चूँकि ऐसी सारी चीज़ें पहले नदियों के किनारे मिलती थीं, हम मनुष्य-समाज को सबसे पहले उन्हीं के आस-पास बसते देखते हैं।

उस युग में भी मनुष्य अकेला नहीं रहता था। वह एक सामाजिक जीव था तथा पारस्परिक सहयोग से ही अपनी आवश्यकता की पूर्ति किया करता था। परंतु अब परिवार की भावना प्रबल हो उठी थी तथा रक्त का संबंध ही परिवार का आधार होता था। मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान समाजों के आज भी अनेकों उदाहरण पाये जाते हैं। उन दिनों

आज-जैसी शादी-विवाह की प्रथा प्रचलित न हो पाई थी। भारत में तो वैदिक युग तक तथा अन्य देशों में मध्य युग के अंत तक व्याह की कोई निश्चित प्रथा क़ायम न हो सकी थी। एक कुनबे के सारे मर्द दूसरे कुनबे की सारी स्त्रियों के साथ स्वच्छंद समागम करते थे। उनसे जो संतान उत्पन्न होती थी, वह किसी की संतान न होकर सारे कुनबे की संतान समझी जाती थी।- उसका पूरे आदर-सत्कार के साथ लालन-पालन होता था।

नवीन प्रस्तर-युग में ही सर्व-प्रथम श्रम-विभाजन नज़र आया, क्योंकि अब कुछ लोग खेती करने लगे थे तथा कुछ लोगों पर पशु-पालन का भार आ पड़ा था। परंतु श्रम-विभाजन नाम-मात्र का ही था। एक काम करनेवाला अक्सर दूसरा काम भी करता था। पुरुष और स्त्रियों में भी श्रम-विभाजन होने लगा था। वर्ग-भेद और व्यक्तिगत संपत्ति का तो जन्म भी न हो पाया था। पुरुष खेती-बारी पशु-पालन तथा शिकार करते और स्त्रियाँ घर का सारा काम-काज किया करती थीं। खेती-बारी सामूहिक होती थी। एक स्थान में रहनेवाला सारा जन-समुदाय एक साथ ही खेती करता तथा सामूहिक रूप में उत्पन्न अन्न का उपयोग कर लिया करता था। अन्न को आपस में बाँटकर व्यक्तिगत रूप से उसका उपभोग करने की प्रथा काफ़ी बाद में जारी हुई। इसी प्रकार जानवरों के समूह पर भी सारे

गाँव का अधिकार होता था और जानवरों का उपयोग भी सामूहिक रूप में होता था।

भारतवर्ष में वैदिक आर्यों का समाज (१५०० ई० पूर्व से १५०० ई० पूर्व तक) पशुपालकों और कृषकों का समाज था।

वैदिक समाज का संगठन क़बीलों (tribes) के रूप में था। उन क़बीलों को वे लोग "जन" कहते थे। एक जन की समूची जनता "विश" कहलाती थी। "जन" के सभी लोग 'सजात' या 'सनाभि' होते या माने जाते थे। जन का शासन उनका बुजुर्ग या पितामह करता था। वह निर्वाचित होता था रिवाज़ से मुक़र्रर किया जाता। वैदिक आर्यों की राजसंस्था पितामह-तंत्र थी, जो मातृमूलक संस्था से नए प्रस्तर के हथियारों और अस्त्रों के विकास और उपयोग के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता चाहनेवाले समाज के विद्रोहियों के द्वारा क़ायम की गई थी।

प्रत्येक जन में कई टुकड़ियाँ होती थीं, जिसे ग्राम कहा जाता था। ग्राम में स्थान का विचार न था। जनवस्थित ग्राम भी होते थे। पशु-पालन और खेती मुख्य जीविकाएँ थीं, शिकार भी करते थे। खेती प्रारंभिक दर्जे की थी, परंतु खेती में प्रारंभिक तरक़्क़ी होने लगी थी। इससे श्रम-विभाजन भी होना शुरू हो गया था। शुरू-शुरू में खेती सम्मिलित होती थी। परंतु समाज का ज्यों-ज्यों विकास होता

गया, बलवान् और चतुर लोग ज़मीन पर व्यक्तिगत संपत्ति क़ायम करने लगे। इस प्रकार हम वैदिक काल में ही भूमि पर व्यक्तिगत संपत्ति क़ायम होते देखते हैं, तो भी उसका विनिमय या व्यापार न के बराबर होता था। दास-दासी यद्यपि संपत्ति में सम्मिलित होते, तो भी समाज का जीवन उनकी मेहनत पर क़ायम न था। जीवन से सभी कार्य जन के स्वतंत्र गृहस्थ करते। राजा 'जन' का या 'विश' का राजा होता, न कि भूमि का। उसकी मनमानी नहीं चलती, वह पूरी तरह नियंत्रित था। "विश" या "जनता" उसका वरण करती थी।

व्यक्तिगत संपत्ति का उदय

दुनिया का इतिहास हमें बताता है कि जिस हद तक मनुष्य ने अपने उत्पादन के साधनों में वृद्धि करने में सफलता प्राप्त की है, उसी हद तक वह अपने जीवन को विकसित करने में भी सफल होता रहा है। यही कारण है कि नवीन प्रस्तर (पत्थर)-युग में भी हम समाज के एक अंग को दूसरे के आगे बढ़ते और सुखमय जीवन बिताते देखते हैं। परंतु इससे यह नहीं समझा जा सकता कि उन दिनों भी आज के समान शोषण शुरू हो गया था और एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य की मेहनत पर जीने की कला सीख ली थी। वास्तव में उन दिनों हरएक म यानुष्य मनुष्य-परिवार

अपने जीवन के लिए सभी आवश्यक चीज़ों को पैदा करता था। पीछे चलकर जब चीज़ों का बाहुल्य होने से उनका तबादला भी होने लगा, तो भी वह एक तो क़बीलों के भीतर ही होता था, तथा दूसरे उस तबादले का मतलब होता था लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति, न कि व्यक्तिगत पूँजी की वृद्धि।

नवीन प्रस्तर-युग की समाप्ति के बाद नियमित रूप से खेती भी की जाने लगी। छोटे-छोटे औज़ारों के द्वारा दस्तकारी के समाज पैदा किये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं; ताँबे और काँसे के हथियार भी काम में लाये जाने लगे थे। इसके पहले के युग में मनुष्य मुश्किल से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लायक़ सामान पैदा कर पाता था। अब वह थोड़ा बहुत पैदा करने लगा था और इसका कारण था दूसरों की मेहनत से फ़ायदा उठाने की कला का प्रादुर्भाव। ज्यों-ज्यों खेती प्रारंभिक अवस्था से विकसित होने लगी और तरह-तरह के औज़ार काम में लाये जाने लगे, त्यों-त्यों समाज के गठन में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। मुखिया या राजा का काम केवल यही नहीं रहा कि क़बीलों की पैदावार को आपस में बाँट दे या क़बीले की ओर से युद्ध का नियंत्रण करे, बल्कि अब उन्हें खेती की ओर भी अधिक समय देने की ज़रूरत पड़ी। क़बीले भर के लोग खेती के काम में किस ख़ूबी और लगन के साथ अपना समय लगावें,

इस ओर भी मुखिया का ध्यान गया। इसी से अब उन्हें ख़ुद काम करने का समय नहीं मिलने लगा और वे क़बीले में एक असाधारण व्यक्ति बन गये, जिनका काम केवल देख-भाल करना रह गया, न कि मेहनत करना। इसके बाद शांति के समय पैदावार का काम और युद्ध के समय युद्ध-विशेषज्ञों का काम इतना अधिक हो गया कि मुखिया को इस क्षेत्र में भी सहायक की जरूरत पड़ गई। कहना नहीं होगा कि ये सहायक भी बिना परिश्रम किये ही क़बीले की ऊँची सतह पर बैठ गये। साथ ही जहाँ खेती के विकास से मनुष्य एक ही जगह पर स्थायी रूप से रहने लगे, वहाँ वे श्रम-विभाजन के मुताबिक़ खेती, शिल्प तथा मकान बनाने के कामों में बट गये। शिकार करने या पशु-पालन की अवस्था से खेती करने की अवस्था में मानव जीवन अधिक सुखी हो गया। चूँकि शिकार करते फिरने से एक जगह बसकर खेती करना कहीं आसान है। शिकार से लाई गई चीज़ जहाँ एक दिन बाद सड़ जाती थी, वहाँ खेती से पैदा किया हुआ अन्न महीनों रहने लगा। इसी खेती के विकास ने जहाँ मुखिए और उनके सहायकों को श्रमहीन बना दिया, वहाँ क़बीलों के अन्य सदस्यों को भी दूसरे की मेहनत पर जीने का सुयोग दिया। जो बलवान् और चालाक होते थे, उन्होंने कमज़ोर व सीधे लोगों को वश में कर लिया और सम्मिलित खेती के सिल-सिले को ख़त्म कर ज़मीन पर व्यक्तिगत संपत्ति का

अधिकार जमाया। इसी से पहलेपहल मेरी सम्पत्ति तथा तुम्हारी सम्पत्ति का लोगों को ख्याल हुआ।

हम देखते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय, खेती के औज़ारों का विकास (ख़ासकर हल), मवेशियों को पालतू बनाने में सफलता, पत्थर के अलावा ताँबा, काँसा इत्यादि धातुओं के हथियारों के प्रयोग तथा चीज़ों को ढोने के लिए मवेशियों के उपयोग से हुआ। ई० स० से १००० वर्ष पूर्व से हम लोहे को भी काम में लाये जाते पाते हैं। इन साधनों से मनुष्य अपनी मेहनत के ज़रिए अपने खाने से अधिक पैदा करने लगा। तभी तो बलवान् लोगों ने कमज़ोरों को दबाकर काम लेना शुरू कर दिया। इसी से व्यक्तिगत संपत्ति के साथ-साथ स्वामी-दास-प्रथा का भी प्रादुर्भाव हुआ।

वर्ग का विकास—ग़ुलाम व मालिक

दुनिया के विभिन्न हिस्सों के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने पर हमें मालूम होता है कि कुछ देश में ख़ासकर प्राचीन रोम और ग्रीस में तो ग़ुलामों की प्रथा जारी हो जाने पर वहाँ की सभ्यता चमकी और ये ग़ुलाम ग्रीस के तत्कालीन समाज का इतना स्वाभाविक अंग बन गये थे कि अरस्तू-ऐसे दार्शनिक को भी इनका अस्तित्व बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता था। जिस दिन से इन ग़ुलामों (जो

मुख्यतः हराये गये क़बीलों के युद्ध बन्दी थे) से, उनकी मेहनत से काम लिया जाने लगा, उसी दिन से समाज के कुछ आदमियों का शोषण भी शुरू हो गया और वर्ग-विभेद पैदा होने लगा। गुलामों के स्वामी, गुलामों के औज़ारों के ही स्वामी नहीं थे, बल्कि गुलामों के शरीर के भी स्वामी बन बैठे। पूर्व का वर्ग-विहीन समाज अब गुलाम और स्वामी, इन्हीं दो वर्गों में बँट गया।

गुलामों ने अपने स्वामियों के लिये भोजन की समस्या को काफ़ी हद तक हल कर दिया। स्वभावतः समाज के स्वतंत्र लोगों को अपने बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास का मौक़ा मिला। उसी के फल-स्वरूप हम तात्कालिक सभ्य देशों, जैसे ग्रीस, रोम और भारतवर्ष में शिक्षा, कला और संस्कृति का प्रसार पाते हैं। जब तक मनुष्य मुश्किल से अपने को ज़िंदा रखने भर चीज़ें पैदा कर पाता था, उसे फ़ुर्सत ही नहीं मिलती थी। किंतु अब पेट-भर खाने और जीवित रहने के अलावा अपने को एक सभ्य नागरिक बनाने की भी चेष्टा करने लगा और अपने इस प्रयास में कुछ हद तक सफलता भी प्राप्त की। फिर भी उसकी इस सभ्यता का आधार हुआ समाज के कुछ लोगों का शोषण और उत्पीड़न। यदि हम उस दिन से आज तक की सभी सभ्यताओं के मूल स्रोत की खोज करें, तो हम देखेंगे कि प्रायः हरएक तथाकथित सभ्य समाज एक अपेक्षाकृत पिछड़े हुए समाज

को नष्ट करके उसकी नींव पर ही अपनी सभ्यता का निर्माण कर सका है और सामाजिक जीवन में भी जीवन-संघर्ष उतना ही तीव्र रहा है, जितना प्रकृति में और जिस पर डार्विन ने काफ़ी प्रकाश डाला है।

युद्ध बन्दियों या ग़ुलामों की मदद से जो कुछ अन्न पैदा होता उसमें से कुछ बेचा जाने लगा होगा, क्योंकि ग़ुलामों के साथ-साथ अब औज़ार भी काम में लाये जाने लगे थे। बहुत संभव है कि उस बचत ने ही मनुष्य को यह सोचने को बाध्य किया होगा कि उस अतिरिक्त अन्न को खाने पीने के बदले जीवन की दूसरी जरूरतों पर खर्च करना ही श्रेयस्कर होगा और शायद इसी ने नई-नई आवश्यकताओं की सृष्टि की, और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिल्प व कारीगरी की थोड़ी बहुत चीज़ें दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी तयार की जाने लगीं। अब हम उस जगह पर पहुँच गये, जहाँ पर प्राचीन सभ्यता का विकास होने लगा है और जहाँ से इतिहास की कड़ी कुछ साफ़ नज़र आने लगी है। इस युग में श्रम-विभाजन एक नये रूप में नज़र आता है।

अब ग़ुलामों से खेती-बारी तथा गृह-उद्योग-धंधों में काम लिया जाने लगा था। इसके अतिरिक्त भी कुछ अधिक माल अधिक रफ़्तार से पैदा होने लगा था तथा उसका विनिमय भी कुछ नियमित रूप धारण कर रहा था।

व्यक्तिगत उत्पादकों के वीच का यही विनिमय सामाजिक आवश्यकता वन गया। सामूहिक विकास के साथ ही श्रम-विभाजन भी स्पष्ट रूप धारण करता गया और वाद में शहरों तथा गाँवों में भी भेद पैदा होने लगा। विनिमय-प्रथा की वृद्धि के साथ-ही-साथ विनिमय के साधन भी ईजाद होने लगे और समय-समय पर जानवरों, उनकी हड्डियों और जानवरों की खाल से सिक्के के रूप में काम लिया जाने लगा। भारत में, उत्तर वैदिक काल में, (१५०० से ८०० ई० पूर्व) कृषि व्यवसाय और अनेक प्रकार के शिल्प व्यवसायों की भिन्नता साफ़ नज़र आने लगी थी और श्रम-विभाजन भी व्यापक रूप धारण करता गया। इसी समय समाज में एक ऐसा भी वर्ग पैदा होने लगा, जिसका उत्पादन से कोई ताल्लुक़ नहीं था और जो सिर्फ़ व्यापार करके मुनाफ़ाख़ोरी पर जीनेवाला वनने लगा था। इस प्रकार के व्यवसायियों की संस्थाएँ कहीं-कहीं क़ायम होने लगीं। परंतु इतना सब कुछ होने पर भी समाज स्वावलम्बी था, चीज़ें ज्यादातर निजी आवश्यकता की पूर्ति के लिये पैदा की जाती थीं और वनिमय अपवाद रूप में दुनिया में प्रचलित होने लगा था। आज की तरह वह सामाजिक अर्थनीति का मूल आधार न बना था।

वर्गविहीन समाज में जहाँ हमने राजाओं को मुखिया पाया है, उन्हें सबकी तरह शारीरिक श्रम करते और क़वीलों

के अन्य सदस्यों के बीच में स्थान पाते देखते हैं। वे चुने जाते थे और क़बीलों के नियंत्रण में उन्हें रहना पड़ता था। उनके उत्तराधिकारी भी क़बीलों के द्वारा चुने जाते थे। इससे साफ़ है कि उस समय आधुनिक अर्थ में राजा या राज्य न था। परंतु जिस तरह व्यक्तिगत संपत्ति का उदय होता गया तथा समाज स्वामी और गुलाम में बँट गया, उसी तरह दो वर्गों मे बँटे हुए समाज को शोषकों की ओर से चलाने के लिये यानी शोषितों (गुलामों) पर अंकुश रखने के लिये राज्य-व्यवस्था क़ायम रखना और राजा मानना ज़रूरी हो गया। तभी तो दास-युग में हम राज्य-व्यवस्था को क़ायम होते हुए तथा अल्प-संख्यक शोषकों की ओर से बहुसंख्यक शोषितों को उनके शरीर और शारीरिक श्रम का दोहन करते हुए देखते हैं।

आज राज्य-व्यवस्था का जो अर्थ है, वह दास-युग में पूर्ण विकसित न हो सका था, क्योंकि उस समय का राज्य बहुत छोटे-छोटे प्रमुख शहरों के इर्द-गिर्द (City States) बसे होते थे। उनके पास एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिये अच्छा साधन न था। सड़कों का अभाव था, साथ समुद्र तथा पहाड़ पर उन्होंने नाम मात्र की ही विजय प्राप्त की थी। दास-युग में हम राजतंत्र और प्रजातंत्र (Republic) दोनों तरह की व्यवस्था पाते हैं। लेकिन दोनों व्यवस्था में गुलाम समाज के सदस्य नहीं समझे जाते थे। गुलाम तो

बोलनेवाले यंत्र (औज़ार) समझे जाते थे। धातु के औज़ारों को मूक यंत्र (Mute tools) और मवेशियों को जिस तरह अर्द्ध-मूक यंत्र (Semi-mute tools) समझा जाता था, उसी तरह बेचारे गुलाम भी औज़ार-मात्र ही थे, उन्हें बोलने-वाला औज़ार (talking tools) कहकर समाज ने उनको जो स्थान दिया था, साफ़ हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ राजनीतिक परिवर्तन भी हुआ। जिस समय औज़ारों के विकास तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति से स्वामी और गुलामोंवाला श्रेणी समाज पैदा हुआ, उसी समय मुखिया राजा बन गया और क़बीलों की सम्पत्ति समाज की सम्पत्ति न होकर राज्य की मिल्कियत बन गई। क़बीले भी अपना रूप बदल कर शहर राज्य (city states) बन गये। इतिहास हमें बतलाता है कि राज्य-व्यवस्था जनता को दमन करके क़ाबू में रखने का एक ज़रिया है। राज्य-व्यवस्था उसी समय क़ायम होती है, जब शोषक-वर्ग की ओर से शोषितों पर शासन करना ज़रूरी हो जाता है, जिससे शोषितों की मेहनत का फल निर्विरोध शोषकों को मिल सके। लेनिन ने भी ठीक यही कहा है।

गुलाम प्रधान समाज ग्रीस और रोम में अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। अनगिनत गुलामों की हड्डियों पर उस समाज का विकास हुआ। चूँकि (city states) आपस

में लड़ा-झगड़ा करते थे, इससे जीतनेवाले हारे हुए लोगों को ग़ुलाम बना लेते थे। इस तरह ग़ुलामों की तादाद दिन-दिन बढ़ती ही जाती थी। ग़ुलाम अपने दोहन से परेशान होकर विद्रोह भी किया करते थे। रोम और मिश्र में ग़ुलामों के विद्रोह ने उस समय के समाज की जड़ ही हिला दी, जिसे गृह-युद्ध (civil war) ने और भी चकनाचूर कर दिया। ईसा की दो-तीन शताब्दी में रोम और मिश्र के दास-स्वामी समाज अपनी आख़िरी साँस लेने लगा था।

भारतवर्ष में उत्तर वैदिक काल में दास-युग उच्चता के शिखर पर पहुँच चुका था। कृषि, व्यापार और शिल्प सभी क्षेत्रों में दासों का दोहन था। परन्तु विचित्र बात यह है कि ग़ुलामों से घृणा रखते हुए भी आर्यों ने उन्हें शुद्ध रूप में अपने समाज में सम्मिलित कर लिया, हालाँकि उनका स्थान दलित श्रेणी का ही रहा। इसके पहले यहाँ तीन ही वर्ण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य थे। जान पड़ता है कि दासों के बढ़ते हुए विद्रोह-भाव को दबाने के लिये ही उन्हें समाज से बहिष्कृत नहीं रखकर समाज में शूद्र का स्थान देकर रख लिया गया। इसके पहले वे चांडाल कहलाते थे तथा गाँवों के बाहर रहने के लिये बाध्य किये जाते थे। ताज्जुब नहीं कि भारत में भी ग़ुलामों ने बड़े-बड़े विद्रोह किये होंगे, परंतु उनके ऐतिहासिक प्रमाण नहीं खोजे गये हैं।

अर्द्ध-दास और सामंत

ग्रीस और रोम में विकसित दास-प्रधान समाज और सभ्यता के नष्ट होने पर बर्बर जातियों के आक्रमणों और उनकी लूट-खसोट ने शताब्दियों तक सारे यूरोप को सभ्यता के अँधेरे में (Dark ages) रक्खा। मुसलमानों और ईसाइयों के धर्म-युद्ध ने और भी तबाही मचा दी। इसके बाद हम मध्य युग (Middle Ages) का उदय देखते हैं। इस युग में जिस समाज का उदय हुआ उसे सामंत युग (Feudal period) कहते हैं। सामंत युग का विकास कई शताब्दियों तक होता रहा, जिसमें समाज के आर्थिक ढाँचे और राज्य व्यवस्था में व्यापक विकास हुए।

इस युग के शुरू होते-होते हम देखते हैं कि सामंत अपनी फ़ौजी ताक़त से किसानों को अपने अधीन करने लगे और उनसे पैदावार का एक हिस्सा अपने और अपनी सेना के खर्च के लिये वसूल करने लगे। उस समय के सामंत को लुटेरे सामंत (Robber Barons) कहते हैं। चूँकि उस समय व्यापार और विनिमय का थोड़ा ही विकास हुआ था इसलिये लुटेरे सामंतों को किसानों से ज्यादा ग़ल्ला वसूल करने की जरूरत नहीं थी। किंतु जब शिल्प और व्यापार का विकास हुआ और देश-विदेश से शान शौकत के सामान आने लगे तो सामंतों को अधिक ग़ल्ला या द्रव्य की आवश्यकता पड़ी। इस बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिये सामंतों ने

किसानों से ज़मीन भी छीन ली। जिस ज़मीन को किसान शताब्दियों से जोतते आते थे, उस पर अब वे अर्द्ध दास (Serf) की तरह काम करने के लिये मजबूर किये गये। वे और उनकी जमीन दोनों सामंतों की सम्पत्ति बन गई। इस समय शिल्प, व्यापार, और विनिमय का काफ़ी विकास हो चुका था। विदेशों से तरह-तरह के माल लाकर व्यापारी गण सामंतों के हाथ सामान बेचते थे। अतः रुपयों का महत्त्व बढ़ता जाता था तथा अधिक रुपया पाने के लिये सामंत अर्द्ध-दासों का अधिक-से-अधिक शोषण करते थे।

तत्कालीन सामाजिक जीवन में इन अर्द्ध-दासों का जो स्थान था, उसे आज तक ठीक-ठीक नहीं समझा ज़ा सकता। उसका मुक़ाबिला न तो प्राचीन युग के ग़ुलामों से किया जा सकता है और न उन ग़ुलामों से ही किया जा सकता है जिनका उद्धार करने के लिये संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन को जान देनी पड़ी थी और वर्षों तक अमेरिका को भीषण गृह-युद्ध में फँसा रहना पड़ा था। साथ ही वह न तो आजकल के खेत मज़दूर के समान थे, जो रोज़ मज़दूरी करके अपनी जीविका चलाते हैं और न आज के मालगुज़ारी देनेवाले किसान के समान ही। इन अर्द्ध-दासों को सप्ताह में कुछ दिनों तक अपने खेत में काम करने की पूरी आज़ादी थी। साथ ही उन्नसवीं सदी के अमेरिकन ग़ुलामों के समान किसी भी दूसरे मालिकों के हाथ बेचे नहीं जा

सकते थे। तथा उन्हें अपने फ़ायदे के लिये अपने खेतों को जोतने-बोने के अधिकार से भी वंचित नहीं किया जा सकता था। वे भाड़े पर काम करनेवाले मजदूरों के समान भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें मजदूरी के रूप में पैसे नहीं मिलते थे। उनकी तुलना मालगुज़ारी देनेवाले किसानों से भी नहीं की जा सकती क्योंकि ज़मीन से वे एक प्रकार से बँधे थे, अर्थात् उन्हें उस ज़मीन पर रहने और काम करने के लिये तब तक बाध्य होना पड़ता था, जब तक वे भाग न जायँ या रुपये-पैसे देकर अपनी मुक्ति न खरीद लें और आज़ाद न हो जायँ।

अपने सामंतों के प्रति अर्द्ध-दासों के कर्तव्य प्रायः निश्चित थे। उनके प्रधान कर्तव्य ये हैं—

(१) अर्द्ध दासों को सप्ताह में दो-तीन दिन मुफ्त उन खेतों में काम करना पड़ता था, जिसकी तमाम उपज सामंतों की निजी सम्पत्ति बन जाती थी।

(२) कटनी के समय तो कुछ और अतिरिक्त दिनों तक अपने मालिकों के खेतों में काम करना होता था।

(३) आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अपने मालिकों के लिये जंगलों से लकड़ी लानी पड़ती थी और सड़कों को दुरुस्त रखना पड़ता था।

(४) अर्द्ध दासों को समय-समय पर भेंट स्वरूप अपने मालिकों को कुछ और चीजें देनी पड़ती थीं, जैसे मुर्गे, चावल आदि।

(५) अपने मालिक के कामों से छुट्टी पाकर अपनी जीविका के लिये मिली हुई ज़मीन पर इन्हें काम करने दिया जाता था। उस ज़मीन की पैदावार अर्द्ध दास अपने उपयोग (काम) में लाते थे।

थोड़े से भू-स्वामियों के हाथ में ज़मीन के बड़े-बड़े चकले आ जाने तथा इन चकलों में अर्द्ध दासों की मदद से खेती होने के कारण भू-स्वामियों के पास काफी धन इकट्ठा होने लगा। परिणाम-स्वरूप लोगों की आवश्यकता बढ़ चली और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये गृह उद्योग धंधे भी काफी परिणाम में फैले। इस युग में हम गृह उद्योग धंधों व्यापार को फैलते हुए देखते हैं। नगरों की संख्या और फैलाव बढ़ने लगा। श्रम विभाजन भी व्यापक रूप धारणकर चुका था। पहले हर कारीगर ख़ुद मेहनत करके चीज़ें पैदा करता था और बेचकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता था। अक्सर वह उन्हीं चीज़ों को तैयार करता था, जिसकी उसके गाँववालों को आवश्यकता होती थी। लेकिन सामंत काल में लोगों की बढ़ती हुई दिन-प्रति-दिन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये बहुत ज्यादा सामान तैयार होने लगा। उत्पादन के साधनों में लगातार वृद्धि होती गई। साथ ही श्रम विभाजन भी व्यापक होता गया। सामंत युग में व्यापारियों का वर्ग उन्नत अवस्था पर पहुँच चुका था। लोहे क बढ़ते हुए उपयोग ने उत्पादन के साधनों को काफ़ी

परिवर्द्धित कर दिया था। शिल्पी विशेष तरह की चीज़ें तैयार करने लगे थे। उन्होंने अपना संगठन भी कर लिया था, जिसे व्यापारिक संघ (Guilds) कहते हैं। ये संघ चीज़ों का उत्पादन और उनकी बिक्री का प्रबंध करते, कच्चे माल की ख़रीद बिक्री का प्रबंध करते, नए लोगों को कारीगरी सिखाते, दोषियों को दंड देते और संकट काल में अपने सदस्यों को आर्थिक मदद दिया करते थे। ये संघ दिन-दिन अपना महत्त्व बढ़ाते गये तथा सामंत शाहों के ज़ुल्मों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करते गये। उन्होंने अर्द्ध दासों की नाईं बेगारी करने के बदले सालाना कर देना आसान समझा और इसमें सफलता प्राप्त कर ली। परंतु सोलहवीं शताब्दी के शुरू होते-होते ये संघ कमज़ोर होने लगे तथा उनकी जगह पर शिल्प-संघ (Craft guilds) कायम होने लगे। इन्होंने दकियानूसी प्राचीन व्यापारिक संघों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद की। इन संघों में अलग-अलग शिल्प में लगे हुए लोग शामिल हुआ करते थे और चीज़ों के उत्पादन बिक्री को निर्धारित किया करते थे। व्यापार और विनिमय की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ श्रम विभाजन की क्रिया भी अधिक व्यापक होती जा रही थी। सोलहवीं शताब्दी के अंत होते-होते हम इन शिल्प संघों को भी उत्पादन के फैलाव में रोड़े का काम करते देखते हैं; यहाँ तक कि नगरों में और प्रारम्भिक नये आविष्कारों पर एक प्रकार से रोक

लगनी शुरू हो गई थी। इसीसे अपेक्षाकृत चालाक और परिश्रमी उत्पादकों ने तात्कालिक उत्पादन के नियमों का उल्लंघन करते हुए अपना स्वतंत्र उत्पादन शुरू कर दिया था। बढ़ते हुए व्यापार की वजह से ही स्वतंत्र उत्पादक दिनों-दिन अधिक उत्पादन करने लगे थे। व्यवसायों को (Manufactures) कहते हैं। एशिया में जाने के नए मार्गों की खोज और अमेरिका के अन्वेषण ने शिल्प और व्यापार को और भी आगे बढ़ाया।

हम देखते हैं कि शिल्प के विकास के साथ-साथ व्यापार का भी विकास हुआ। सामंत युग में व्यापारी बहुत ही व्यापक और सुदृढ़ हो गये। चूँकि सामाजिक परिवर्तन में आगे चलकर इस बीच के गिरोह ने बहुत जोरदार हिस्सा लिया इसलिये यह समझ लेना जरूरी है कि व्यापार की उत्पत्ति व विकास किस प्रकार हुआ।

जब कृषि की प्रथा आरंभ हुई और आगे चलकर जब पैदावार बढ़ी तब लोगों को फुर्सत का भी समय मिलने लगा। इसी समय शिल्पी चित्रकारी, कपड़ा बनाना, बढ़ई-गिरी, औज़ार बनाना, लोहारगिरी तथा अन्य कार्य आरंभ हुए। शुरू में तो एक परिवार ही अपनी आवश्यकता की सभी चीज़ें बना लेता होगा, परंतु जब काम बढ़ा होगा और विशेषज्ञ होने लगे होंगे तो उसकी चीज़ों की माँग बढ़ी होगी और धीरे-धीरे वह उत्पादन के अन्य कार्यों से अलग होगया होगा।

और सिर्फ वही कार्य उसका पेशा हो गया होगा। इस प्रकार शुरू में श्रम विभाजन हुआ। अब मान लीजिये कि एक बढ़ई है जो सिर्फ हल या वैसे ही अन्य सामान तैयार करता है। परन्तु उसे खाने के लिये चावल की जरूरत है। तब वह अपने सामान को चावलवाले किसान से, जिसे हल आदि की जरूरत होगी, बदलता होगा। इसी प्रकार अन्य पेशावाले भी करने लगे। शुरू-शुरू में एक गाँव में सभी चीजें मिल भी जाती होंगी। किंतु ऐसा भी था कि कोइ गाँव सिर्फ पशु पालन का ही काम करता था। वहाँ की ज़मीन कृषि के लायक नहीं होगी। वहाँ के लोगों को सामान लाने के लिये दूसरी जगह जाना पड़ता होगा। इसी प्रकार एक गाँव के लोगों को तरह-तरह की चीजों के लिये दूसरे गाँव में घूमना पड़ता होगा। तब कहीं वे सभी सामान जुटा पाते होंगे। इस कठिनाई को दूर करने की आवश्यकता से मेला या बाज़ार की स्थापना हुई, जहाँ गाँवों के लोग निश्चित दिन पर अपना-अपना सामान लाते होंगे और आपस में उनका तबादला करते होंगे। इसके फलस्वरूप बाज़ार की स्थापना हुई जिसे लोगों को अपनी जरूरत के सभी सामान एक ही जगह मिलने लग गये तथा लोगों की परेशानी दूर हो गई।

अब मान लीजिये कि किसी बाज़ार के दिन कुछ लोगों का सामान नहीं खप सका। उन्हें वापस लौटना पड़ा। शायद

कुछ कारणों से उस सामान के ग्राहक न आये हों। तब उन्हें बेचनेवाले या बदलनेवाले को परेशानी भी उठानी पड़ी, समय भी बर्बाद हुआ और उनकी ज़रूरत की चीज़ें भी उन्हें नहीं मिल सकीं। यह मुसीबत बार-बार लोगों को सताने लगी। आज किसी को, कल किसी को। ऐसी परिस्थिति से लाभ उठाकर, कुछ लोग उसी बाज़ार में घर बना कर रहने लगे होंगे और जिन लोगों के सामान नहीं बिके होंगे, उसे अपने लिये चिंता नहीं करनी पड़ी होगी। लोग उसे कुछ देते होंगे तथा वह उत्पादन के परिश्रम से भी बच गया होगा। धीरे-धीरे उसके पास चीज़ों का स्टाक होने लगा होगा। तब उसने स्टाक से पिंड छुड़ाने के लिये (यह तय किया होगा कि) स्वयं ही चीज़ों के तबादले का कार्य करने लगा होगा। सब तरह के सामान उसके पास रहते ही थे। इस तरह उसने अपने पास कुछ पूँजी जमा कर ली होगी। पूँजी चाहे पशु के रूप में हाथी दाँत, मोर पंख के रूप में और आगे चलकर ताँबे के टुकड़ों के रूप में ही हो। अब वह इस पूँजी से लोगों का सामान खरीदता होगा। जैसे ही लोग वहाँ पहुँचते होंगे दूसरों के हाथ बेच देता होगा। इस प्रकार उत्पादक को भी फ़ायदा हुआ कि वहाँ (बाज़ार में) बेकार कई दिन ठहरने तथा चीज़ों के तबादले की झंझट से बचे। समय की भी बचत हुई और इस प्रकार वे उत्पादन का कार्य भी तेज़ी से करने लगे। इसलिये वे अपनी चीज़ों को कुछ सस्ती ही

बेचकर तथा उन व्यक्तियों की कुछ महँगी ही चीज़ें ख़रीद कर वापस चले जाते होंगे। उनके समय की बचत होती थी और इस प्रकार उन्हें घटी नहीं होती थी। ये ही व्यक्ति या ऐसे ही लोग व्यापारी बन गये, जो स्वयं तो चीज़ों के उत्पादन में भाग नहीं लेते थे, परंतु उत्पन्न चीज़ों के तबादिले में बड़े मददगार बन गये। हाँ, वे इस सेवा के लिये फ़ीस भी लेने लगे और वह इस रूप में कि सस्ते दर पर चीज़ें ख़रीद कर महँगे दर पर बेचने लगे। हम देखते हैं कि इस तरह व्यापारी-वर्ग की उत्पत्ति होती है, अब इसका विकास कैसे हुआ ?

इस प्रथा के बाद जब ताँबे या चमड़े के सिक्के प्रचलित हो गए होंगे ये बनिये फेरी भी करने लगे होंगे। वे स्वयं उत्पादकों के घर पर पहुँचने लगे तथा और भी सस्ते दर पर उनके घर पर ही वस्तुओं को ख़रीदने लगे। इस प्रकार उन्हें कुछ मुनाफ़ा और होने लगा, तथा उत्पादकों का समय भी बचा। धीरे-धीरे एक ऐसा समय भी आ गया, जब ये बनिये विशेषज्ञों को लगा कर उत्पादन संगठन में हाथ बटाने लगे जैसा कि सामंतयुग के guilds और Crfts guilds में हम पाते हैं। चीज़ों को खपाने के लिये इन्हें दूर-दूर के स्थानों में भी जाना पड़ा चीज़ों की माँग भी बढ़ी और धीरे-धीरे हम देखते हैं। कि इसने स्थल को नहीं पार किया वरन् अगाध समुद्रों को भी

नाव—आगे चल कर बड़ी-बड़ी नावें—द्वारा लाँघना आरंभ किया। इनके व्यापार के द्वारा संस्कृति भी फैली। एक जगह के लोग दूसरी जगह के संपर्क में आए। विचारों के आदान-प्रदान से समाज आगे बढ़ने लगता है। यह हम सामंत-युग में पाते हैं कि भारत, चीन, बैबिलोनिया, मिस्र, काबुल आदि देशों में व्यापार होने लगा। इस युग में व्यापार की काफी तरक़्क़ी हुई, क्योंकि तरह-तरह की चीज़ों की माँग अत्यधिक बढ़ने लगी। इसी प्रकार हिंदुस्तान में कपड़े, तम्बाकू, गोल मिर्च इत्यादि दूसरे देशों में जाने लगे, चीन से काग़ज़ और बारूद फैलने लगे, रोम और मिस्र से लोहे के औज़ार (छूरा, ख़ंजर आदि) सिकंदर की लड़ाई के साथ बिकने लगे। साथ ही सामंत भी तरक़्क़ी करने लगे। उस समय हम देखते हैं कि सामंतों और बनियावर्ग में काफ़ी दोस्ती थी। सामंत शासक थे। इसलिये बनियावर्ग उससे डरता था और ख़ुश करने के लिये अच्छी-अच्छी चीज़ें नज़राने में देता था और इस प्रकार उसकी मदद से ये व्यापारी उसका शोषण करते थे। उन्हें अपनी ताक़त तो थी नहीं, अतः राज्य की सैनिक शक्ति से ये लाभ उठाते थे। मौर्य-शासन के ज़माने में भारत के व्यापारी अपने क़ाफ़िलों की रक्षा के लिए फ़ौजी टुकड़ियाँ भी रखते थे। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इसकी चर्चा की है। शुरू में तो यह वर्ग सामंतों की

तारीफ़, पुरोहितों की तरह, भी करता पाया जाता है। यह राजाओं, सामंतों को क़र्ज़ देकर उन पर प्रभाव भी डालता था।

सामंत-युग के (Manufacturing period) में व्यापारी और भी प्रभावशाली हो गए और उत्पादन में काफ़ी पूँजी देकर उत्पादकों से काफ़ी सामान तैयार कराने लगे। ये इन्हें कच्चा माल देते, आवश्यक ख़र्च के लिए पूँजी देते तथा सभी तैयार माल को ख़रीदकर देश-विदेश में बेचकर मालामाल होने लगे। फिर नए आविष्कारों को उपयोग में लाने के लिए प्रचुर धन रहने के कारण ये व्यापारी उत्पादन के साधन में पूँजी लगाने लगे, तथा मध्यवित्त (bourgeois) वर्ग बनकर पूँजीवाद के प्रसार तथा सामंत युग के ख़ातमा के हेतु मौजूदा समाज के अगुआ बन बैठे। इसे हम पूँजीवाद पर विचार करते समय ठीक-ठीक समझ पायेंगे।

सामंत-युग के प्रारम्भिक काल में भिन्न-भिन्न राजाओं के मातहत कतिपय सामंत रहा करते थे। चूँकि सामंतशाही का आधार किसानों का शोषण था और उस शोषण के बल पर सामंतों की फ़ौज का भरण-पोषण होता था, अतः सामंतों के लिये आपस में लड़ना या ख़ुद राजा बनने की चेष्टा करना स्वाभाविक था। और ऐसा सम्भव भी था। इसी से १५वीं शताब्दी तक सामंतों की लड़ाई या राज्यों का घटना-बढ़ना ऐतिहासिक घटना सी थी।

परन्तु जैसे हमने व्यापारिक संघ, शिल्प-संघ और स्वतंत्र उत्पादकों की प्रगति पर विचार किया है और व्यापार तथा विनिमय को विकसित होते देखा है, वैसे ही हम सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में यह भी देखते हैं कि शिल्प, व्यापार और विनिमय के विकास के साथ-साथ देशों में केन्द्रीय शासन की भावना जाग्रत् हो उठी। अर्थनीति ने राजनीति पर अपना असर डाला। राजाओं ने सामंतों के बदले आम जनता की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। अब राजाओं को ही अपने देश के अंदर शांति व व्यवस्था क़ायम करनी पड़ती थी, उन्हें ही व्यापारियों की रक्षा का प्रबंध करना पड़ता था। सामंतों के दबाने में व्यापारियों से राजाओं को मदद भी मिली। इस प्रकार सामंत धीरे-धीरे कमज़ोर होने लगे। बहुतों ने तो अपनी जागीरों, अपने देहाती प्रासादों या क़िलों में रहने के बजाय तात्कालिक राजाओं के महलों में उनके आश्रितों की नाईं जीवन बिताना शुरू कर दिया था और अपनी जागीरों की व्यवस्था का सारा बोझ अपने वेतनभोगी नौकरों पर छोड़ दिया। अर्द्ध-ग़ुलामों से सप्ताह में दो-तीन दिन काम लेकर अपने खेतों में अन्न उपजाने के बदले अधिकांश सामंत-शाहों ने नक़दी मालगुज़ारी वसूल करना ही लाभप्रद समझा। उस रुपए से शिल्प और व्यवसाय के ज़रिये उन्हें अधिक लाभ की आशा थी।

सामंत-युग में सामंतों और अर्द्ध-गुलामों के बीच संघर्ष हुआ करता था। हर मुल्क में किसानों ने विद्रोह किया। जर्मनी, फ्राँस, इँगलैंड व रूस में सामंत-प्रथा के विरुद्ध किसानों ने बग़ावत की। सामंतों या राजाओं ने किसानों को बुरी तरह से कुचला। अंत में १८वीं शताब्दी में जब पूँजीवादी गिरोह ने सामंतशाही के विरुद्ध बग़ावत की, तो किसानों ने उन्हें पूरा सहयोग दिया। जिसके फलस्वरूप सामंतशाही युग के शोषण से छुटकारा पाकर किसान पूँजीवादी शोषण की चक्की में पिसने लगे।

हम भारतवर्ष में सामंत-युग का प्रादुर्भाव महाजनपदों (४०० ई० पू०) से पाते हैं। मौर्य व गुप्त सम्राटों के शासन-काल (३०४ ई० पू० से २२५ ई० पू० तक और ३१६ ई० से ५१० ई० तक) में भारत में सामंत-युग काफ़ी विकसित हो चुका था। शिल्पियों और व्यापारियों की संस्थाओं के रूप में श्रेणी और निगम का दृढ़ संगठन हो चुका था। वे अपने अंदर के सब प्रबंध, क़ानून बनाना आदि, स्वयं करते थे। सम्मिलित पूँजीवादी व्यापारियों की मंडलियाँ देश-विदेश में व्यापार करती और मालों पर एकाधिकार क़ायम कर उनका मूल्य घटा या बढ़ा सकती थीं। अपने मालों की देश-विदेश में रक्षा करने के लिये फ़ौज भी रखती थीं। इन श्रेणियों और निगमों का राज्य पर बहुत ही प्रभाव था और राजा इनके मुखियों को संतुष्ट करने की कोशिश करते थे। परंतु

उसके बाद हूण, शक, गुर्जर आदि जातियों के आक्रमण ने तथा तुर्की और अफ़ग़ान जातियों के आक्रमण और राज्यत्व-काल में छोटे-छोटे सामंत-शाहों का बोलबाला था और देश छोटे-छोटे राज्यों में बटा हुआ था, जिनमें परस्पर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। किसानों की लूट-खसोट भी काफ़ी हुआ करती थी, अकाल भी पड़ा करता था। मुग़लों के समय में, ख़ासकर अकबर के समय में ,हम गुप्त सम्राटों के समय से भी अर्थ-नीति और राज्य-व्यवस्था को अधिक विकसित पाते हैं। खेती, शिल्प, व्यापार और विनिमय काफ़ी उन्नत दशा को प्राप्त कर गए थे। इस काल में देहातों के लड़ाई-झगड़ों को वहाँ के मुखिया ही तय कर लेते थे। गाँवों में सिक्के का ज़्यादा प्रचार न था। ज़मीन की मालगुज़ारी में ज़मीन की पैदावार का ही एक हिस्सा लिया जाता था। ज़मीन का बंदोबस्त हमेशा किसानों के साथ ही होता था। ज़मींदार या अन्य कोई तहसीलदार लगान नहीं वसूल करता था। किसान स्वयं ख़ज़ाने में जमा कर देते थे। गाँव के लोगों की आवश्यकताएँ भी कम थीं। खाने-पहनने-भर की फ़िक्र लोगों को रहती थी। देहातों में आराम या विलास के साधनों तथा धन की कमी थी। किसान ग़रीबी की ज़िंदगी बिताते थे, परंतु प्राचीन ग्राम-पंचायत का सिलसिला जारी था। इन पंचायतों की स्वाधीनता में राजा लोग हस्तक्षेप नहीं करते थे। राजसभा में कहाँ क्या

हो रहा है, अथवा कहाँ क्या लड़ाई-झगड़ा होता है या किस राजा की गद्दी पर कौन राजा बैठता है, इन बातों की ख़बर देहातों में लोग नहीं रखते थे। सामंतों की लूटपाट के बाद गाँव-पंचायत एक हद तक अपने को स्वाधीन ही पाती थी। १५वीं, १६वीं, १७वीं शताब्दी में भारतवर्ष का शिल्प-व्यापार इतना फैला था कि हमारे देश का सामंतशाही समाज पूँजीवादी समाज की ओर बढ़ता ही जा रहा था। पं० जवाहरलालजी ने 'विश्व-इतिहास की झलक' में लिखा है कि अगर अंग्रेज़ अपना साम्राज्य क़ायम करके हमारे देश के स्वाभाविक विकास को कृत्रिमता और बर्बरता से नहीं रोकते, तो हमारे देश के आर्थिक विकास का यही ऐतिहासिक फल होता कि १८वीं, १९वीं शताब्दियों में हमारे यहाँ भी पूँजीवाद का फैलाव होता।

हमारे यहाँ भी किसानों ने सामंतशाही के विरुद्ध बग़ावतें कीं, जिसके फल-स्वरूप ग्राम-पंचायतों की स्वाधीनता एक हद तक क़ायम रह पाई। कार्ल मार्क्स ने 'केपिटल' में हमारी ग्राम-पंचायतों की सुंदर तस्वीर खींची है।

मज़दूर तथा पूँजीपति

१६, १७ तथा १८वीं शताब्दी में व्यापार यूरोप-भर में ही सीमित न रहकर अमेरिका, एशिया और आफ्रिका से काफ़ी बड़े पैमाने पर होने लगा था। यूरोप के हर देश इस बढ़ते हुए व्यापार की वजह से राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत

हो गए और हर राजे अपने देश की सम्पत्ति बढ़ाने की भावना से शिल्प और व्यापार में हस्तक्षेप करने लगे। इस राजकीय नियंत्रण को mercantile कहा जाता है। राज्य के इस हस्तक्षेप से पुराने व्यापारी या शिल्पसंघ नहीं रह पाये। Mercantilism के दिनों में बढ़ते हुए व्यापार की माँग को पूरा करने के लिये पहले के छोटे-छोटे गृह-उद्योग काफ़ी बड़े हो गए। उसे मार्क्स ने गृह-उद्योग का manufacturing रूप कहा है। अब एक ही जगह अधिक चर्खे या करघे चलते या बनते। इन उद्योगों का तथा इनके विनिमय का नियंत्रण राज्य की ओर से हो गया था। इसे ही mercantilism कहा गया है।

परंतु गृह-उद्योग के इस बढ़े विकास से बढ़ते हुए व्यापार का काम नहीं चला। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग ने नए-नए आविष्कारों के लिये मैदान साफ़ कर दिया। धनी व्यापारियों ने बढ़ते हुए आविष्कारों से फ़ायदा उठाकर सूत और कपड़ा बनाने तथा लोहे और कोयलों की खानों से लोहा और कोयला लेकर, बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियाँ खड़ी करनी शुरू कर दीं। १८वीं शताब्दी में बड़े-बड़े कारख़ानों के मालिक (Capitalist) समाज के बड़े महत्त्व-पूर्ण अंग बन गए। अब तक जहाँ ज़मीन ही पैदावार का मुख्य साधन थी, अब बड़े-बड़े उद्योग ही उत्पत्ति के मुख्य साधन (basic means of production) बन गए। कृषि तो अब निम्न स्थान को प्राप्त कर गई।

पहले जहाँ ज़मीन जोतनेवाले या करघा चलानेवाले अपनी मेहनत के पैदावार का ख़ुद उपभोग करते थे, अब कारख़ाने में काम करनेवाले सिवा अपनी मेहनत के पैदावार पर किसी तरह का दावा नहीं कर सकते थे। परंतु मज़दूरों के मिलने में सामंतशाही की वजह से बाधा पड़ती थी। साथ ही Mercantilisim के नियम उपनियम पूँजीवाद के विकास में रोड़े अटकाते थे। इसी से सामंतशाही के विरुद्ध पूँजीवाद को लड़ना पड़ा। यह लड़ाई बहुत ही व्यापक ढंग से हुई। इँगलैंड के आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रांति १८वीं सदी में सफल हो गई, जिसके फल-स्वरूप नए पूँजीपति कच्चा माल ख़रीदने, मज़दूरों को मनमाने ढंग पर काम कराने और पैदा की हुई चीज़ों को मनमाने ढंग पर बेचने के लिये आज़ाद हो गए। इसे Doctrine of Aisser-Faire कहते हैं। इँगलैंड में ख़ूनी क्रांति के बग़ैर ही ऐसा हो सका, चूँकि वहाँ के सामंतों ने उनके व्यापार से लाभ उठाने के लिये किसानों को ज़मीन से बेदख़ल कर दिया। जो शहरों में जाकर कारख़ानों के मज़दूर बन गए। सामंतों का भी रूप बदल गया और वे कृषि-संबंधी नई आविष्कृत मशीनों का इस्तेमाल करके पूँजीवादी खेतिहर (Farm capitalist) बन गए। फिर क्या था? इँगलैंड के पूँजीवादी बेरोक-टोक कल-कारख़ाने बढ़ाने लगे। रेल, जहाज़ तथा बड़ी-बड़ी मशीनों का बनाना शुरू हुआ। बड़े-बड़े शहर कोयले तथा लोहे की खानों के

आस-पास बसने लगे। अपनी ज़मीन से निकाले गए किसान घर और ज़मीन से रहित होकर इन शहरों में पूँजीपतियों के मज़दूर बनकर रहने लगे। फ्रांस में १७८६ ई० में पूँजीपतियों ने किसानों और मज़दूरों की सहायता से क्रांति की, जिसके फल-स्वरूप वहाँ सामंतशाही खत्म हो गई। किसान या तो अपनी अर्द्ध-गुलामी से मुक्त होकर अपनी ज़मीन पर काम करने लगे या काफ़ी ज़मीन नहीं मिलने के कारण शहरों के कारखानों में मज़दूरी करने लगे। १६वीं सदी के उत्तरार्ध में जर्मनी और इटली में भी सामन्तशाही का नाश करके पूँजीवाद का पाँव जम गया। और साथ ही १६वीं सदी के पूर्वार्ध में रूस तथा जापान में भी पूँजीवादी व्यवस्था को अपनाना शुरू किया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, जो १७७६ ई० में स्वतंत्र हुआ था, पूँजीवाद की ओर द्रुतगति से अग्रसर होने लगा। इसी तरह हम देखते हैं कि १८वीं और १६वीं शताब्दी में पूँजीवाद ने अपना काफ़ी फैलाव कर लिया था।

पूँजीपतियों ने अपने वर्ग की स्वार्थ-रक्षा के लिए आर्थिक क्षेत्रों में Aisser-Faire की नीति चलाई; और राजनीतिक क्षेत्र में राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। राजा पार्लियामेन्ट के हाथ में आ गया। फ्रांस में क्रांति के कितने उलट-फेर के बाद १८७१ ई० में प्रजातंत्र क़ायम हो गया। इटली और जर्मनी के शासक निरंकुश रहकर भी पूँजी-

वादियों की उपेक्षा नहीं कर पाये। इस तरह हम देखते हैं कि सामंतशाही के ख़त्म हो जाने के बाद पूँजीवाद ने अपनी सुविधा के मुताबिक़ राजशासन को बदला और उस पर अपना सिक्का जमाया। अनेकों किसान या छोटे-छोटे गृह-उद्योगों में काम करनेवाले शिल्पी अपने शरीर के अलावा सब कुछ खो बैठे। कारख़ानों में अपनी श्रम-शक्ति के बेचने के लिये पूँजीपतियों पर निर्भर रहना उनके लिए आवश्यक हो गया। तभी तो पूँजीपतियों ने दिन-रात काम कराकर और कम मज़दूरी देकर उनका शोषण करना आरम्भ कर दिया। मज़दूरों के बच्चों और उनकी स्त्रियों तक से १८-२० घंटे काम कराया जाता था, जिसके फलस्वरूप मज़दूर भयंकर दरिद्रता और अकाल मृत्यु के शिकार होने लगे। तात्कालिक सरकारों द्वारा बहाल किए गये फ़ैक्टरी-निरीक्षकों से भी उस समाज के मज़दूरों की दीनावस्था का मार्मिक वर्णन मिलता है। अपनी अवस्था से ऊब कर हड़ताल कर देना या कहीं-कहीं फ़ैक्टरी जला देना मज़दूरों ने शुरू कर दिया। इनके कुछ नेता भी पैदा हुए, जैसे रावर्ट ओवेन, फेरिये आदि। इन्होंने काल्पनिक साम्यवाद का जन्म दिया। साथ ही मज़दूरों के संघ भी बनने लगे, जिन्होंने पूँजीपतियों से लड़ाइयाँ करके काम करने के घन्टों का निश्चय कराया तथा तरह-तरह के फ़ैक्टरी ऐक्ट्स बनाने के लिए पूँजीपतियों को मजबूर किया।

१८४८ ई० में जर्मनी के कार्ल मार्क्स और एंगिल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो निकाल कर यूरोप में उस समय की बढ़ती हुई क्रांति की लहर को क्रांतिकारी उद्देश्य और क्रांतिकारी साधन को मज़दूरों की दृष्टिबिन्दु से किया। उन्होंने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मज़दूरों को यह बतलाया कि जब से व्यक्तिगत संपत्ति क़ायम हुई है, समाज में वर्गसंघर्ष जारी है—ग़ुलामों और मालिकों के बीच, किसानों और सामंतों के बीच तथा मज़दूरों और पूँजीपतियों के बीच। पूँजीवादी समाज में वर्गसंघर्ष और भी व्यापक तथा तेज़ हो गया है। जहाँ पूँजीवादियों ने प्राचीन गृह-उद्योगों को नष्ट कर अपना पाँव जमाया, वहाँ पूँजीवाद के विस्तार ने प्रतियोगिता के बल पर छोटे-छोटे पूँजीपतियों को नष्ट कर कम-से-कम लोगों के हाथों पूँजी का एकत्रीकरण और केन्द्रीयकरण (concentration and centralisation of capital) कर दिया। नये-नये आविष्कारों ने पूँजीपतियों को ऐसी मशीनें दीं, जिनसे अपेक्षाकृत कम मज़दूरों से ही काम चलाना सम्भव हो गया।

पूँजीवाद का आधार और नफ़ा (profit) तथा यह नफ़ा मज़दूरों की श्रम-शक्ति को बाज़ार की तरह ख़रीद कर पूँजीवादी मज़दूरों के अतिरिक्त श्रम (Surplus labour) से अतिरिक्त-अर्घ्य (Surplus value) के रूप में पाता है। इसी से बढ़ती हुई पूँजी के एकत्रीकरण का अर्थ होता है नई-नई

मशीनों का इस्तेमाल कर अपेक्षाकृत कम-से-कम मजदूरों से काम लेना। ऐसा होने पर मजदूरों की बढ़ती हुई जन-संख्या बेकार हो जाती है, जिन्हें व्यापार की उन्नति के दिनों में पूँजीवादी अपने काम में लगाते हैं, और मंदी के दिनों में बेकार बनाकर रखते हैं। ऐसे मजदूरों को औद्योगिक संचित सेना (Industrial Reserve Army) कहते हैं। जिन करोड़ों मजदूरों से पूँजीवादी दिन-रात काम लेते हैं, उनकी भी हालत दिनोंदिन खराब होती जायगी। एक ओर कम-से-कम पूँजीपतियों के हाथों में उत्पत्ति के साधनों का होते जाना और दूसरी ओर मजदूरों का अधिक-से-अधिक शोषण और बेकारी पूँजीवाद का लाजिमी नतीजा है। इसी से मार्क्स और एंगिल्स ने मजदूरों को एक हो जाने तथा उत्पत्ति के साधनों पर क़ब्ज़ा करके दुनिया में साम्यवादी व्यवस्था क़ायम करने का आह्वान किया। "दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ" के नारे ने मजदूरों को एक नया अस्त्र प्रदान किया। मार्क्स ने १८६७ में अपनी अद्वितीय पुस्तक "केपिटल" में पूँजीवाद की पूरी मीमांसा की और वैज्ञानिक साम्यवाद के आधार पर दुनिया के मजदूरों और दलितों के सामने इस बात को साफ़-साफ़ रख दिया कि पूँजीवाद के विकास का यह लाजिमी और ऐतिहासिक तक़ाज़ा है कि उत्पत्ति के साधनों पर श्रमजीवियों का अधिकार हो। पूँजीवाद के विश्लेषण से मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचे

कि पूँजीवाद में आर्थिक संकट, एकाधिपत्य का निर्माण (Formation of monopolies cartels etc.) तथा लड़ाइयाँ सन्निहित हैं। साथ ही मज़दूरों में वर्ग-भावना का भी उदय होगा और अपने ऐतिहासिक कर्तव्य को जानकर वे पूँजीवादी समाज को साम्यवादी समाज में परिवर्तित करके ही दम लेंगे।

मार्क्स और एंगिल्स ने केवल सिद्धांतों का ही निरूपण नहीं किया, वरन् वे क्रांति के कार्य में लगे भी रहे। उन्होंने दुनिया-भर में साम्यवादी क्रांति लाने की दृष्टि से जाग्रत् मज़दूरों का प्रथम विश्व-संघ क़ायम किया। योरोप के भिन्न-भिन्न देशों में तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं पर इन्होंने सुलझी हुई क्रांतिकारी राय दी, और उनको सुलझाने में अपना हाथ भी बटाया।

मार्क्स और एंगिल्स ने दलित, अपमानित और शोषित जनता के लिये समयोपयोगी साधन और उद्देश्य दिए। उन्होंने मज़दूरों को इसका ज्ञान कराने की पहलेपहल चेष्टा की कि उत्पादन के साधनों पर समाज का एकाधिपत्य हो जाने पर ही पूँजीवाद के दोष दूर हो सकते हैं और मनुष्य इतिहास में पहले-पहले प्रकृति तथा परिस्थिति का ग़ुलाम न होकर उनका प्रभुत्व करेगा। अब तक मनुष्य की अपनी सामाजिक व्यवस्था ने उसे अपने चंगुल में फँसा कर रक्खा है, मानों यह व्यवस्था प्रकृति-निर्मित हो। उत्पादन के साधनों को

हाथ में लेकर मनुष्य अपनी व्यवस्था अपनी अवस्था के मुताबिक़ परिवर्तित और प्रतिशोधित कर सकता है। मनुष्य का इतिहास मनुष्य की इच्छा पर निर्भर होगा। मनुष्य पहलेपहल अपनी जानवर-ऐसी अवस्था से दूर हटकर मनुष्य बन सकेगा। तभी मानवता छलाँग मारकर, आवश्यकताओं की जंजीर से रिहा होकर स्वतंत्रता की ज़िंदगी व्यतीत करेगी। दुनिया के मज़दूरों का यह ऐतिहासिक कर्तव्य है कि वे आज की व्यवस्था को बदल कर इस तरह मानवीय व्यवस्था कायम करें। वैज्ञानिक साम्यवाद, जो मज़दूर-आंदोलन का स्वाभाविक निष्कर्ष है, मज़दूरों को इस ऐतिहासिक कर्तव्य की ओर प्रेरित करता है।

मार्क्स और एंगिल्स की विचार-धारा को रूस में लेनिन और जर्मनी में रोजा लुक्जेमबर्ग ने पूँजीवाद के तत्कालीन विकास पर ध्यान देते हुए कार्यान्वित करने की चेष्टा की। रूस में १९१७ ई० में मज़दूर-राज्य क़ायम भी हो गया। जर्मनी तथा यूरोप के अन्य मुल्कों में मज़दूरों के क्रांतिकारी आंदोलन बहुत शक्ति-संचय करने पर भी अब तक सफल न हो पाये हैं। एशिया में चीन के उत्तरी-पश्चिमी भाग में साम्यवादी राज्य क़ायम हो चुका है।

लेनिन ने पूँजीवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण किया और इस बात का प्रतिपादन किया कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की आख़िरी मंज़िल है। एकाधिपत्य प्राप्त पूँजी-

पति साम्राज्यवाद के जरिये पूँजीवाद का फैलाव करता है। परंतु इससे पूँजीवादी देशों में आर्थिक संकट बार-बार आने लगता है और आपस में लड़ाइयाँ होने लगती हैं। साथ ही शोषित देश (colonies) एक हद तक पूँजीवाद का विकास कर लेते हैं और वहाँ के पूँजीपति, मज़दूर, किसान आज़ादी के लिये अपने साम्राज्यवादी देशों से लड़ने लगते हैं। इस तरह पूँजीवादी देशों की आपस की लड़ाइयाँ तथा शोषित देशों की आज़ादी की लड़ाइयाँ साम्राज्यवाद को चकनाचूर करके पूँजीवाद ख़त्म कर देंगी। लेनिन की इस विचार-धारा ने दुनिया के सभी देशों, साम्राज्यवादी या पराधीन, पूँजीवाद के इस नये रूप को समझकर क्रांतिकारी प्रोग्राम बनाने में बड़ी मदद की। दुनिया में साम्यवादी क्रांति के उद्देश्य से लेनिन ने तीसरे विश्व-संघ (Third International) की भी स्थापना की, जिसकी शाखायें दुनिया-भर में क़ायम हो गईं। अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि स्टालिन ने इसे रूसी विदेशी विभाग का पुछल्ला बना दिया।

आज के विश्व-युद्ध में यह तीसरा विश्व-संघ स्टालिन के इशारे पर दूसरे विश्व-संघ (Second International) की तरह, जो गत महासमर में क्रांति-विमुख हो गया था, कर्तव्य-च्युत हो गया है। फिर भी दुनिया के मज़दूरों में इतनी वर्ग-चेतना आ गई है कि वे पथ-भ्रष्ट नहीं किये जा

सकते। तभी तो हर जगह स्वतंत्र समाजवादी पार्टियाँ क्रांति के पथ पर आगे हो रही हैं।

पूँजीवाद के विकास में एक नया विकास भी हुआ है। उस पर भी थोड़ा-बहुत विचार लेना ठीक होगा। गत महासमर के बाद जर्मनी अपनी हार के कारण अपने उपनिवेशों से वंचित हो गया और युद्ध के भार से लद गया। इसका पहला नतीजा तो वहाँ के निरंकुश शासन की जगह लोकतंत्रात्मक शासन का क़ायम होना हुआ। किंतु वहाँ के पूँजी-पति, ख़ास करके एकाधिपत्य प्राप्त पूँजीपति (monopoly capitalists) उपनिवेशों के अभाव में अपने देश के किसानों और मज़दूरों के अत्यधिक शोषण पर उतारू हो गए, क्योंकि इसके बग़ैर पूँजीवाद, मुनाफ़ा ही जिसका मूलमंत्र है, नहीं रह सकता था। इसी वजह से १६३३ में जर्मनी के पूँजीपतियों ने लोकतंत्र का स्वाँग हटाकर निरंकुश शासन चलाना शुरू किया, इसे फ़ासिज्म कहते हैं। जिस तरह एका-धिकार प्राप्त पूँजीपतियों का गिरोह उपनिवेशों में साम्राज्य-वादी शोषण करता है, उसी तरह वह उपनिवेशों के अभाव में अपने देश के किसानों और मज़दूरों का अधिक-से-अधिक शोषण करने के लिये राज्य-शासन में भी एकाधिकार प्राप्त करता है। लोकतंत्रात्मक शासन चालू रखकर नई परिस्थिति का सामना करना उसके लिए व्यावहारिक नहीं रह जाता।

इस फ़ासिज्म ने जर्मनी के पहले इटली और जापान में

अपना प्रभाव फैला रक्खा था। इटली ने अबीसीनिया पर जापान ने चीन पर चढ़ाई करके उपनिवेश-प्राप्ति के लिए क़दम बढ़ाया। जर्मनी ने आस्ट्रिया और जेकोस्लोवाकिया लिया। आज के युद्ध में तीनों एक साथ हैं। ये उपनिवेश पाने के लिए लड़ रहे हैं। साथ ही इँगलैण्ड और अमेरिका अपने साम्राज्य और प्रभाव क्षेत्रों की रक्षा के लिए इनका मुक़ाबला कर रहे हैं। केवल रूस और चीन आत्मरक्षा के लिए लड़ रहे हैं। अभागे फ़्रान्स में जहाँ लोकतन्त्रवाद का जन्म हुआ था, अपने एकाधिपत्य प्राप्त पूँजीपतियों की साज़िश से फ़ासिज़्म के सामने घुटने टेक दिये।

फ़ासिज़्म क़बूल करनेवाले देशों में मज़दूरों की स्वतन्त्र संस्थाएँ तोड़ दी गईं और उनका खुला राजनीतिक जीवन भी असम्भव कर दिया गया, पर भीतर-ही-भीतर वर्ग-संघर्ष की आग सुलग रही है। ऐसा समझा जाता है कि यदि यह लड़ाई काफ़ी लम्बी होगी, जैसी कि होती जा रही है, तो लड़ाई के दरम्यान ही या यदि लड़ाई में हार हुई, तो उसके बाद मज़दूर क्रांति की ओर अग्रसर हुए विना न रहेंगे।

अब अपने देश पर संक्षिप्त प्रकाश डालना जरूरी है। भारतवर्ष में अँगरेज़ी साम्राज्यवाद क़रीब १५० वर्षों से शोषण कर रहा है। यहाँ ज़मींदारी प्रथा क़ायम करके किसानों के शोषण को बढ़ा देने के साथ-साथ देशी शिल्प और व्यापार को नष्ट करके भारत से कच्चा माल ले जाना तथा विलायत

से तैयार माल लाकर नफ़ा लूटना अँगरेजी साम्राज्यवाद की प्रारम्भिक नीति थी। परंतु एकाधिकार प्राप्त पूँजीशाही के उदय होने के साथ-साथ विलायती पूँजी भी यहाँ आने लगी। पहले तो रेल में पूँजी लगी, उसके बाद चाय के बगानों, लोहे और कोयले की खानों, जूट की मिलों आदि में। यहाँ के मज़दूरों को मवेशियों की तरह चूसा जाने लगा। किन्तु इनको मालामाल होते देख देशी व्यापारियों ने भी कल-कारख़ाने कायम करना शुरू कर दिये। भारत-सरकार उनके विरुद्ध रोड़े अटकाती रही, परन्तु धीरे-धीरे हम भारतीय पूँजीपतियों को काफ़ी फैलाव करते देखते हैं। एशिया का सबसे बड़ा कारख़ाना, जो जमसेदपुर में है, भारतीय पूँजी पर ही क़ायम है। बंबई, अहमदाबाद, कलकत्ते के आस-पास के कारख़ाने बिहार, यू० पी० के चीनी के कारख़ाने भारत की पूँजी पर ही अवलंबित हैं। इसके अलावा ऐसे भी कारख़ाने हैं, जिनमें देशी और विलायती दोनो पूँजी लगी हैं। ऐसी हालत में जहाँ भारतीयों और विलायती पूँजीपतियों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता के कारण तीव्र संघर्ष क़ायम हो गया है, वहाँ भारतीय मज़दूरों का विशाल समुदाय बन गया है, जिनमें केवल कारख़ाने में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या ३० लाख तक पहुँच गई है। इसी से एक ओर जहाँ हम अँगरेज़ी साम्राज्यशाही के चंगुल से छुटकारा पाने के आंदोलन को

तीव्र होते देखते हैं, वहाँ मज़दूरों को दिनोंदिन तबाही के गर्त में गिरते जानेवाले किसान-समुदाय के साथ मिलकर पंचायती राज्य क़ायम करने के प्रयत्न को चालू देखते हैं। एक ओर जहाँ स्वराज्य की लड़ाई में संयुक्त मोर्चा है, वहाँ दूसरी ओर किसान-मजदूर-वर्ग संघर्ष में संलग्न है। स्वराज्य का आंदोलन १९२० से तीव्र हो गया है, जिसके फल-स्वरूप कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में अँगरेज़ी शासन को हिंदुस्तान छोड़कर चले जाने की माँग की है तथा देश में अभूतपूर्व आंदोलन के द्वारा कांग्रेस की माँग का ज़ोरदार समर्थन किया है। भारतीय सरकार ने लोकतंत्र का दावा रखकर भी इस आंदोलन का जिस बेरहमी के साथ दमन किया है, उससे साम्राज्यवाद के अमानुषिक पूँजीवादी आधार का पर्दाफ़ाश हो गया है। जहाँ तक देश के किसान-मज़दूर-वर्ग के संघर्ष का सवाल है, वह काम किसान और मज़दूर-सभाएँ करती हैं। मज़दूरों की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस समाजवादी दल है, जिसका कांग्रेस में भी काफ़ी प्रभाव है। तीसरे विश्वसंघ की शाखा भी यहाँ है, पर स्टालिन के ग़लत नेतृत्व के कारण मज़दूरों तथा साधारण जनता में उनका प्रभाव ग़ायब है। उपर्युक्त जन-आंदोलन का इन्होंने विरोध किया है और आज वे सरकार का साथ दे रहे हैं। १९३०-३२ के आंदोलन का भी इन्होंने विरोध किया था। देश की जनता अब इनका साथ नहीं दे सकती।

अँगरेज़ी साम्राज्य के कतिपय उपनिवेश लड़कर औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कर चुके हैं मौजूदा विश्व-युद्ध में इसकी प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। ताज्जुब नहीं कि इस युद्ध के बहुत दिनों तक जारी रहने पर या युद्ध के बाद के जन-आंदोलन के फलस्वरूप साम्राज्य ख़तम हो जाय या वहाँ साम्यवादी सरकार क़ायम हो जाय।

वर्ग-संघर्ष के उदाहरण मिस्र और रोम के ग़ुलाम

मिस्र में वर्ग-संघर्ष का अभूतपूर्व उदाहरण मिलता है। वहाँ के ग़ुलामों ने अपने स्वामियों तथा उनके हिमायतियों और ज़ालिम राजा के शोषण और उत्पीड़न से ऊबकर विद्रोह कर दिया और अपना शासन क़ायम कर लिया। इन ग़ुलामों ने २३५० ई० पू० से २१५० ई० पू० तक २०० वर्षों तक अपनी व्यवस्था चलाई। अपने शासन-काल में इन्होंने अपने शोषकों को ग़ुलाम बनाकर रक्खा और ख़ुद स्वामी बने। इनके स्वामी अब काम करते, भूख की वेदना से पीड़ित होते और अपनी क़िस्मत पर रोते। उनकी जगह पर अब ये लोग मौज उड़ाते, अन्न-वस्त्र वा आभूषण से परिपूर्ण रहते। जहाँ पहिले नील नदी में चेहरा देखते और ज़मीन पर सोते, वहाँ अब आईने में चेहरा देखते और पलंग पर सोते।

वर्ग-संघर्ष के इस उदाहरण से जहाँ हमें यह पता चलता

है कि वर्ग-संघर्ष कोई दिमाग़ी चीज नहीं, बल्कि ऐतिहासिक सत्य है, वहाँ हमें इस बात का भी बोध होता है कि वर्ग-संघर्ष आर्थिक सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता। मिस्र के विजयी ग़ुलाम विजित स्वामियों को ग़ुलाम बनाकर २०० वर्षों तक राज्य कर पाये। ग़ुलाम रहित समाज बनाना उनके लिए असम्भव था। चूँकि उस समय मिस्र का आर्थिक गठन याने जीवन-यापन का तरीक़ा ग़ुलामों के शोषण पर ही निर्भर करता था। वर्गरहित समाज बनाना तो दूर रहे, सामंतशाही समाज भी वे-ग़ुलाम नहीं बना सके, क्योंकि सामंतशाही समाज भी उसी हालत में बन सकता है, जब कृषि में बहुत तरक़्क़ी हो गई हो। शिल्प व व्यापार काफ़ी फैल गया हो तथा सामंतों व राजाओं के लिये थायी सेना का विकास हो गया हो।

ईसा के क़रीब ७०० वर्ष पहले रोम में लोकतंत्र का बोल-बाला था, परंतु वह लोकतंत्र आज के लोकतंत्र से भिन्न था। उस समय रोम की जनता दो भागों में विभाजित थी। पहला-वर्ग पेट्रीसीयन लोगों का था, जिसमें बड़े-बड़े ज़मींदार और बड़े-बड़े रईस लोग थे, दूसरा वर्ग प्लेबियन लोगों का था, जिसमें मामूली आदमी थे। रोमन लोकतंत्र पर इन्हीं इने-गिने अमीरों और जमींदारों का प्रभुत्व था। शासन-कार्य सिनेट करती थी। पहले सिनेट में बहुत दिनों तक सिर्फ़ उच्च वर्ग के ही लोग लिये जाते थे। पेट्रीसीयन

लोगों के हाथ में ताक़त थी, और जिसके हाथ में ताक़त रहती है, धन भी उसी के पास जाता है। धन और प्लेवो के ज़ोर पर पेट्रीसीयन लोगों को दबाये रहते और उनका शोषण करते थे। कई सौ वर्षों तक इन दोनों वर्गों में संघर्ष चलता रहा और प्लेवों को कुछ अधिकार के टुकड़े मिले। इस संघर्ष में प्लेवों ने जो तरीक़ा आविष्कार किया, उसे असहयोग कहना अनुचित न होगा। प्लेवों ने संगठन के साथ सामूहिक रूप में रोम शहर छोड़कर दूसरा शहर बसा लिया। अब पेट्रीसीयन घबड़ाये, क्योंकि विना उनके इनका काम चलना मुश्किल था। अतः पेट्रीसीयन लोगों को झुकना पड़ा और प्लेवों को बुलाकर इन्होंने उनको कुछ अधिकार दिये। धीरे-धीरे प्लेव सिनेट तक पहुँचने लगे।

हमने यहाँ पर पेट्रीसीयन प्लेवियन, दो वर्गों के संघर्ष को देखा। पर इन दोनों के अलावा एक और भी बड़ा शोषित वर्ग ग़ुलामों का वहाँ मौजूद था। रोम का साम्राज्य ग़ुलाम प्रधान ही था। वहाँ ग़ुलामों पर रोमांचकारी ज़ुल्म होते थे, दिन रात उनसे काम लिया जाता, साथ ही उन्हें अमीरों के मनबहलाव के लिए जंगली जानवरों से लड़ते-लड़ते जान भी देनी पड़ती थी। अपने शोषण से ऊब कर रोम-साम्राज्य के ग़ुलामों ने २००० वर्ष पूर्व स्पार्टऐक्स के नेतृत्व में विद्रोह किया, जिसमें ग़ुलामों ने बड़ी सेना भी खड़ी कर

ली थी। परंतु काफ़ी लड़ने के बाद भी ग़ुलामों को सफलता नहीं मिली। परंतु उनके विद्रोह तथा गृह-युद्ध ने रोम का ख़ातमा कर दिया। इसके बाद ही हम रोम, ग्रीस तथा सारे यूरोप में कई शताब्दियों तक Dark ages का बोलबाला पाते हैं।

रोम के उदाहरण से हमें इस बात का पता चलता है कि वर्ग-संघर्ष में शोषक और शोषित दोनों में कोई एक भी विजयी न होकर दोनों का प्रभाव हो सकता है। साथ ही ग्रीस और रोम तथा सारे यूरोप में वर्बर जातियों का उदय तथा Dark ages के फैल जाने से इस बात का भी सबूत मिलता है कि समाज का विकास सीधे आगे की ओर न होकर वक्र गति से आगे की ओर चलता है। ग़ुलाम-युग की सभ्यता और संस्कृति को वर्बर जातियों ने बहुत हद तक तहस-नहस कर दिया। मध्य के आने से ही हम फिर से समाज को तरक़्क़ी करते देखते हैं।

फ्रांस की क्रांति, सामंत व पूँजीपति

सामंतशाही पर विचार करते हुए हमने यह देखा है कि सोलहवीं-शताब्दी के ख़तम होते-होते सामंत कमज़ोर होने लगे थे और राज्य-व्यवस्था तथा राजाओं का आधिपत्य फैलने लगा था। सामंत अब किसानों से नक़द मालगुज़ारी भी लेने लग गये थे। अर्द्ध-ग़ुलाम की प्रथा जर्जर हो गई

थी। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के किसी किसान को उसकी मरज़ी के ख़िलाफ़ शादी करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता था। रुपये देकर अर्द्ध-गुलाम आज़ाद खेतिहरों की श्रेणी में शामिल हो सकते थे। फिर भी किसान की आर्थिक दशा नहीं सुधर सकी थी। उनकी सारी कठिनाइयाँ और तकलीफ़ें क़ायम थीं। किसान अपनी ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में मन के मुताबिक़ फ़सल नहीं बो सकते थे, क्योंकि प्रचलित प्रथा उन्हें यह अधिकार नहीं देती थी। वे अपने जानवरों को वैज्ञानिक ढंग से नहीं पाल सकते थे। यहाँ तक कि उनके बीच फैलनेवाली बीमारी से रक्षा करने के लिए दवाइयों के प्रयोग करने का उन्हें अधिकार न था। वे अतिरिक्त करों और जुर्मानों के बोझ से पिसे रहते थे। अपने मालिकों की मिलों, रोटी बनानेवाली भट्ठियाँ, अंगूर से शराब निकालनेवाली कलों और पुलों के लिए किसानों को अत्यधिक टैक्स देना पड़ता था। उन्हें झूठे मुक़द्दमों में फँसा लिया जाता और कड़ी-कड़ी सज़ाएँ दी जातीं। यहाँ तक कि अपने हरे-भरे खेतों को बर्बाद होते देख उन्हें चुप बैठना पड़ता था, क्योंकि सामंत हरिनों का शिकार करते थे। उनकी राजनीतिक सत्ता तो राजा के हाथों में चली गई थी। परंतु किसानों के आर्थिक दोहन में उनका एकाधिकार हो गया था। चूँकि वे राजा का समर्थन करते थे, राजा उन्हें मनमाने ढंग पर तबाह

और परेशान होते देखते थे। पादरी गिरजों की मदद भी सामंतों को मिलती थी। किसानों को अपने राजा, सामंत तथा गिरजों को अलग-अलग टैक्स देने पड़ते थे और उन करों की रक़म एकदम काफ़ी मोटी होती थी।

किसानों की दशा के ठीक प्रतिकूल दशा थी सामंतों, अमीरों और धनी पादरियों की। १,५०००० सामंत और अमीर तथा १,३०००० धनी पादरी, फ्रांस की कुल आबादी के एक प्रतिशत बकिये ९९ सैकड़े आदमी की मेहनत पर मौज उड़ाया करते थे। विशेषाधिकार प्राप्त यह वर्ग समाज के अन्य लोगों से बिलकुल अलग रहता था और अपने गर्व में चूर रहता था। इस वर्ग के लड़के जन्म से ही सम्मान पाते तथा गिरजों और फ़ौजों में उच्च से उच्च स्थान प्राप्त कर लेते। अन्दाज़ लगाकर देखा गया है कि इस वर्ग के हाथ में, क्रांति से पहले, फ्रांस की सारी ज़मीन का पाँचवाँ हिस्सा था।

विशेषाधिकार प्राप्त इस वर्ग के अलावा एक और भी वर्ग खड़ा हो रहा था, जिसे मध्यमवर्ग (बुर्जुआ) कहा जाता है। उद्योग-धन्धे और व्यापार इसी वर्ग के हाथ में थे। बड़े-बड़े कारख़ानों के खुलने तथा यूरोप के अलावा एशिया तथा आफ्रिका में व्यापार के फ़ैलने के कारण यह वर्ग एक महत्त्व-पूर्ण वर्ग बन गया था। अब खेती ही समाज का एकमात्र आधार नहीं रह गई थी। उसका स्थान गौण

हो गया था, और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे ही पैदावार के मुख्य ज़रिये हो गये थे। यानी पूँजीवाद अपना पाँव जमा चुका था।

परन्तु, इस नये नियम के विकास में सामंतशाही के दक़ियानूसी नियम और प्रथाएँ पुराने व्यापारिक संघ पर एकाधिकार कर रोड़े अटकाते थे। सारे देश में तौल का एक माप न होने से जगह-जगह पर जक़ात (टैक्स) देते तथा उद्योग-धन्धों पर अनावश्यक रुकावट रहने के कारण मध्यम वर्ग (पूँजीवादी वर्ग) को बड़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता था। पुराने व्यापारिक संघ के हाथ में व्यापार के सभी अधिकार थे और राज्य की ओर से Mercantilism की नीति के अनुसार उन्हें ही समर्थन मिलता था। पूँजीवाद की सफलता के लिये यह ज़रूरी था कि व्यापार पर किसी तरह का प्रतिबंध न लगाया जाय, किसानों को सामंत आपस में बेरोकटोक प्रतियोगिता करने दें। चूँकि फ्रांस की तत्कालीन परिस्थिति पूँजीवाद के इस प्रकार स्वतंत्र विकास के रास्ते में रोड़े का काम करती थी और किसान सामंतों द्वारा निर्धन और तबाह किये जाने पर भी शहरों के कारखानों में काम करने के लिये स्वतंत्र नहीं थे। इसी से राजा, सामंतों और पुराने ढंग के व्यापारियों के विरुद्ध मध्यम वर्ग ने किसानों की सहायता लेकर विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह १७८९ में हुआ। फ्रांस के इस विद्रोह को फ्रांस की राज्य-क्रांति कहते हैं।

क्रांति का मतलब है एक महान् परिवर्तन, चाहे वह आर्थिक हो, सामाजिक हो या राजनीतिक। आम तौर से मनुष्य परिस्थितियों का दास रहता है और जब तक वह परिस्थिति से ऊब नहीं उठता या जब तक उसकी परिस्थिति उसके लिए असह्य नहीं हो जाती, तब तक वह उसे बदलने की चेष्टा नहीं करता। परंतु जब एक बार मनुष्य अपनी परिस्थिति से ऊब उठता है और उसके सामने विद्रोह के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता, तो वह क्रांति की ओर अग्रसर होता है। साथ ही उसके सामने यदि अपेक्षाकृत सुखमय संसार का नक़्शा रक्खा गया हो, तब तो क्रांति की ज्वाला और भी प्रज्वलित हो उठती है। फ़्रांस के किसान सामंतों से ऊबे हुए तो थे ही। मध्यम वर्ग के नेताओं ने उनके सामने सुनहले संसार का नक़्शा भी रक्खा। १८वीं सदी में फ़्रांस में उग्र तथा प्रगतिशील लेखक हुए, जिनका फ़्रांस की जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस समय के विचारकों और लेखकों में वाल्टेयर और रूसी सर्व-प्रधान हैं। उन्होंने लोगों को बुद्धिवाद और आज़ादी, समानता तथा भाईचारे का संदेश दिया। उन्होंने प्रचलित प्रथा के खिलाफ़ ज़ोरदार शब्दों में लिखा। राजा और राज्य-व्यवस्था पर भी आलोचनाएं लिखीं और इस बात को साफ़ कर दिया कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र है और राजा समाज की शर्तों पर ही रह सकता है, अन्यथा नहीं। पादरियों की

भी उन्होंने ख़बर ली तथा अन्ध-विश्वास के शिकार लोगों से कहा—"जो आदमी बिना जाँच-पड़ताल किये किसी धर्म को स्वीकार कर लेता है, वह उस बैल के समान है, जो अपने कंधों पर जुआ रखवा लेता है।"

ये सारी बातें क्रांति का निर्देश करती थीं। ज्वालामुखी का मुँह फटने ही वाला था और ऐसा हुआ भी। सोलहवाँ लुई उस समय फ्रांस का राजा था। वह पादरियों के इशारे पर नाचा करता और पूँजीपति, मज़दूर तथा किसानों की उपेक्षा करता था। उसके गद्दी पर बैठने के पहले ही फ्रांस के सरकारी ख़ज़ाने की हालत शोचनीय हो रही थी। लुई सोलहवें ने फ़िजूल ख़र्च द्वारा तथा अमेरिका को आज़ादी की लड़ाई में मदद देकर उसकी हालत और भी शोचनीय बना दी थी। फ्रांस की दशा अब भी सुधर सकती थी, यदि सामंतशाही और बड़े-बड़े आदमियों पर कर लगाया जाता। तुर्गति और नेकर ने ऐसा करने की राय भी दी थी। परंतु सामंतों के विरोध के कारण लुई को इन अर्थ-सचिवों को बरख़ास्त करना पड़ा। इस उम्मीद से कि स्टेटस् जेनरल (पार्लियामेन्ट) काफ़ी स्वीकृति दे देगी, १७८८ के मई में लुई ने स्टेटस् जेनरल की बैठक बुलाई। कहना न होगा कि सन् १७१४ के बाद से निरंकुश राजा ने कोई भी बैठक नहीं बुलाई थी। इसमें तीन मेम्बर थे, एक में सामंत और अमीर बैठते थे, दूसरे में पादरियों के

प्रतिनिधि और तीसरे में आम लोगों के प्रतिनिधि। ये तीनों स्टेट के नाम से पुकारे जाते, जैसे फ़र्स्ट स्टेट, सेकेन्ड स्टेट और थर्ड स्टेट। तीनों को अलग-अलग वोट देने का हक़ था तथा किसी दो की राय मिल जाने पर तीसरे को उसकी राय मानने के लिए लाचार हो जाना पड़ता था। यही कारण था कि पुराने ज़माने में अमीर, सामंत और पादरियों के प्रतिनिधि एक साथ मिलकर आम जनता के प्रतिनिधियों को हराया करते और अपनी मन-मानी किया करते थे। १७८८-८९ के जाड़े में प्रतिनिधियों का चुनाव हुआ और जनता ने उस चुनाव में जोश के साथ भाग लिया। चुनाव के बाद तीसरे तबके के लोगों ने यह माँग पेश की कि तीनों तबके एक साथ वोट दें, क्योंकि ऐसा न होने पर उनका एक वोट होता और अमीरों तथा पादरियों के दो वोट। तीनों के साथ वोट देने पर तीसरे तबके का बहुमत निश्चित था। राजा ने ऐसा करने से इनकार किया। लाचार होकर १७ जून १७८९ को तीसरे तबके ने अपने को राष्ट्रीय परिषद् (National Assembly) घोषित कर दिया। मीरावों की अध्यक्षता में वे एक टेनिस कोर्ट में इकट्ठे हो गए और उत्तेजना के बीच यह निश्चय किया कि वे तब तक अलग न होंगे जब तक फ्रान्स का विधान न तैयार कर लें। क्रांति की यही शुरुआत थी। मीरावों ने यह घोषणा कर दी कि "हम लोग यहाँ जनता की इच्छा से

इकट्ठे हुए हैं और तलवार के द्वारा ही बाहर निकाले जा सकते हैं।" लुई परेशान हो गया और अब उसने तीनों दलों को एक साथ बैठकर वोट देने की आज्ञा दे दी। इससे निरंकुश सत्ता की जड़ में ज़बरदस्त धक्का लगा। परंतु अब भी राष्ट्रीय परिषद् की राह में रोड़े थे। जुलाई के शुरू में लुई ने फ्रान्स की सीमा पर टिकी फ़ौज को धीरे-धीरे पेरिस के आस-पास इकट्ठा करना शुरू किया। यह साफ़ हो गया कि लुई राष्ट्रीय परिषद् को कुचलना चाहता है। पेरिस की जनता ने बग़ावत कर दी। लगभग तीन दिनों तक अराजकता फैली रही। १४ जुलाई को जनता ने बेस्टाईल के सुप्रसिद्ध जेल को तोड़ डाला और क़ैदियों को मुक्त कर दिया। उसके पतन से जनता में विचित्र उत्साह फैला तथा क्रांति ने अपनी ज्वालाएँ फैलानी शुरू कर दीं। तब से लेकर १६३६ तक १४ जुलाई को फ्रांस में राष्ट्रीय दिवस मनाया जाता रहा है। बेस्टाईल के पतन के बाद पेरिस ने अपनी स्वतंत्र सरकार की स्थापना कर ली। यह सरकार पेरिस कम्यून के नाम से प्रसिद्ध हुई और राजाओं के अफ़सरों की जगह जनता के चुने हुई प्रतिनिधि नियुक्त हुए तथा एक राष्ट्रीय रक्षक सेना तैयार हुई जिसकी तायदाद शीघ्र ही ४८ हज़ार हो गई और लाफायत उसका नेता बन गया। लुई ने परिस्थिति की गम्भीरता को महसूस किया और शीघ्र अपनी सेना हटा ली। वह स्वयं पेरिस गया,

जनता की कार्रवाइयों की तारीफ़ की और पेरिस की नई सरकार को भी स्वीकार कर लिया। उसके लिये दूसरा चारा नहीं था, किंतु फिर लुई ने अपना रंग बदला और वर्सेलीज में एक भोज दिया गया जिसमें आनेवाले सैनिकों का स्वागत किया गया। उसे नया ख़तरा समझ कर पेरिस की औरतों का एक नया जुलूस "रोटी दो, रोटी दो" के नारे लगाता हुआ वर्सेलीज की ओर बढ़ा। लायाफत अपने स्वयंसेवकों के लिये उनके पीछे था। स्त्रियों ने राजप्रासाद को घेर लिया। लुई फिर झुका और अपने परिवार के साथ पेरिस आने के लिए राज़ी हो गया। उसकी सवारी के साथ स्त्रियों का जुलूस नारे लगाता हुआ पेरिस वापस आ गया।

उन दिनों फ्रान्स के गाँवों में भी क्रांति की आग फैल रही थी। क्रांति के शुरू में ही किसानों ने कर देना बंद कर दिया। फ्रांस के दूसरे शहरों ने भी पेरिस का ही अनुकरण किया। चारो ओर विद्रोह फैल गया। किसानों ने सामंतों के क़िलों पर धावा बोल दिया। कुछ सामंत मारे गये, और कुछ फ्रांस की सीमा के बाहर भाग गए। पादरियों के महल और गिर्जे लूटे जाने लगे। प्रान्तीय शासकों ने अपना काम छोड़ दिया, पुलिस बेकार हो गई और राज्य का ढाँचा चूर चूर हो गया।

परंतु पुरानी प्रणाली को तोड़ डालना जितना आसान था,

नई प्रणाली की स्थापना करना उतना नहीं। परंतु राष्ट्रीय परिषद् के नेताओं ने काफ़ी बुद्धिमानी से काम लिया और सिर्फ़ दो वर्षों के भीतर इतने स्थायी काम कर डाले कि बाद की उलट फेरों के बीच में इन सुधारों की सत्ता बहुत हद तक क़ायम रह गई।

राष्ट्रीय परिषद् ने अर्द्धगुलामी की प्रथा के नाश के साथ-ही-साथ सामंतशाही को हमेशा के लिए खत्म कर दिया। मनुष्य के अधिकारों की भी घोषणा की आज़ादी तथा प्रेस की आज़ादी सुरक्षित कर दी गई। चूँकि इस क्रांति में पूँजीपति वर्ग का ही आधिपत्य था, उन्होंने इस घोषणा में अपने अधिकारों की रक्षा विशेष रूप से कर ली। उस घोषणा में यह लिखा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति अबाध्य और पवित्र है। शासन की सुविधा के लिए सारे देश में एक नियमित और मज़बूत शासन-पद्धति चालू हो गई। खज़ाने की कमी को गिर्जे की ज़मीन को ज़ब्त कर और उन्हें थाती रखकर कागज़ के नोट के ज़रिये पूरा किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय परिषद् क्रांतिकारी सुधार और परिवर्तन किए। सन् १७६१ में विधान भी तैयार हो गया और उसके मुताबिक़ परिमित राजतंत्र क़ायम हो गया। लुई को उस पर हस्ताक्षर करने के लिए राज़ी होना पड़ा।

लोगों को विश्वास हो गया कि फ्रान्स में सुख-शान्ति का

नया युग आ गया। परंतु शीघ्र ही उथल-पुथल के लक्षण मालूम होने लगे। राष्ट्रीय परिषद् के दबाव में पड़ कर लुई ने २० एप्रिल १८९२ को आस्ट्रिया और प्रशा के खिलाफ़ लड़ाई की घोषणा कर दी। इस लड़ाई ने फ्रान्स में एक नई ज़िन्दगी ला दी। फ्रान्स की जनता ने समझा कि यह एक महान् उद्देश्य के लिए लड़ रही है और वह उद्देश्य है आज़ादी, समानता तथा राष्ट्रीयता की रक्षा। ग़रीब किसान लाल टोपी लगाये, हाथ में भाला-बर्छा लिए दौड़े जाते नज़र आने लगे। शुरू में हार हुई। लोगों को अब यह विश्वास हो गया कि लुई विदेशी राजाओं से मिलकर पुरानी हुकूमत हासिल करना चाहता है और छिपे-छिपे दुश्मनों को मदद दे रहा है। जो लुई के परिमित राजतंत्र को भी ख़त्म करना चाहते थे, उनके हाथ को मज़बूत करने में इस धारणा ने काफ़ी मदद की। इसी बीच २५ जुलाई को दुश्मनों ने यह घोषणा की कि वे इस लिए लड़ रहे हैं कि फ्रान्स की अराजकता का अंत हो जाय तथा लुई बिना किसी हस्तक्षेप के राज्य कर सके। इस वक्तव्य का जवाब पेरिस की जनता ने एक भीषण विद्रोह से दिया। ६ अगस्त को पेरिस की जनता ने पेरिस कम्यून की जगह पर एक क्रांतिकारी कमेटी की स्थापना कर ली, राजप्रासाद पर धावा बोल दिया गया, राजा के शरीर-रक्षकों की हत्या कर दी, राजा

व रानी को परिषद् की शरण लेनी पड़ी। परिषद् ने १० अगस्त को राजा को अपने पद से उतार दिया और प्रजातंत्रात्मक विधान तैयार करने के लिए बालिग़ मताधिकार द्वारा एक राष्ट्रीय कन्वेशन के चुनाव की घोषणा कर दी।

इसी बीच दुश्मन फ़्रान्स की सीमा के भीतर बढ़े चले आ रहे थे। दांतन क्रांतिकारी कमेटी का नेता बन गया। २० सितम्बर को वाल्मी में आस्ट्रिया और प्रशा की सेना को पहली बार हार खानी पड़ी। इस जीत की खबर पेरिस पहुँचते ही राष्ट्रीय कन्वेशन ने यह घोषणा कर दी कि फ़्रांस से राजतंत्र का नाश हो गया। २२ सितम्बर १७९२ से क्रांति का पहला वर्ष गिना जाने लगा। राष्ट्रीय कन्वेशन तीन वर्षों तक क़ायम रहा और इसने काफ़ी महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी सुधार किये। इसने अनिवार्य सनिक शिक्षा का प्रचार कर बड़ी तत्परता से बाहरी दुश्मन का मुक़ाबिला किया। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रबंध किया गया। भगोड़े अमीर और पादरियों की ज़मीन किसानों को बाँट दी गई। बड़ी-बड़ी ज़मीन तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़ों में बेंच दी गई या सुविधाजनक शर्तों पर बन्दोबस्त में दे दी गई। एक ओर से सुधार हो रहे थे, दूसरी ओर दमन का भी दौरदौरा था, जिसमें पहले फ़्रांस का राजा फाँसी पर चढ़ा, बाद में रानी और बाद में क्रांति का

नेता रोबरस्पियन भी।........के बाद पेरिस की जनता का प्रभाव घटने लगा और मध्यम वर्ग ने अपना सिक्का जमाना शुरू किया। फिर भी कन्वेशन ने प्रजातंत्र के प्रति अपनी पूरी भक्ति दिखलाई, चूँकि पूँजीपति का काम प्रजातंत्र से ही सुरक्षित रह सकता है। परंतु पेरिस के मजदूरों की आर्थिक माँग तथा किसानों और मज़दूरों के राजनीतिक अधिकार के पूरे होने के दिन अभी नहीं आये थे। जनता ने अपने सर्वस्व की बाज़ी लगाकर क्रांति को सफल बनाया। परंतु उसका फल भोगना था समाज के पूँजीपति वर्ग को। किसानों से तो आज़ाद हो गए, परंतु पूँजीवाद की चक्की में पिसने के लिए मजबूर कर दिए गये। जिन किसानों को ज़मीन नहीं मिली, वे शहरों में जाकर कारखानों में काम करने लगे। क्रांति में भाग लेनेवाले पेरिस तथा अन्य शहरों के मज़दूर अपने सुनहले स्वप्नों पर पानी फिरते देख पूर्ववत् ही हीनावस्था में रहकर मज़दूरी का काम करने लगे। इसके ठीक विरुद्ध पूँजीपति, राजा, सामंतों तथा उनके सहायक पादरियों से स्वतंत्र होकर राज्य की बागडोर अपने हाथों में लेकर पूँजीवाद का फैलाव मज़दूरों तथा किसानों की हड्डियों पर तथा उपनिवेश की लूट पर करने लगे।

किसान दूर-दूर फैले हुए थे; अशिक्षित, और साथ ही पूँजीपतियों की तरह न तो उनका संगठन ही हो सकता

था और न उन्हें वे साधन तथा राजनीतिक चेतना ही थी जिसके बल पर वे क्रांति के अगुआ बनते। अभी-अभी का पैदा हुआ मजदूर वर्ग, जो अपने शैशव काल में था, एक जगह शहरों में एकत्रित रहने पर भी तथा क्रांति में भरपूर भाग लेने पर भी किसी तरह के अधिकार प्राप्त करने से वंचित रहा, क्योंकि न तो उसे वर्ग-चेतना ही थी, न साम्यवाद का ज्ञान ही। मजदूरों की वर्ग चेतना तथा उनमें साम्यवादी क्रांतिकारी भावना तो पूँजीवाद के कुछ अधिक विकास हो जाने के बाद ही आई, जिसका धुँधला चित्र हमें १८७१ के पेरिस कम्यून में तथा पूरा चित्र रूस की क्रांति में मिलेगा। जिस तरह फ्रांस में किसानों ने परिस्थिति से ऊबकर फ्रांस के पूँजीपतियों का साथ दिया, उसी तरह से रूस के किसानों ने मजदूरों का। किसान किसी के सहायक तथा साथी हो सकते हैं। किसी क्रांति का नेतृत्व किसान वर्ग के लिए ग़ैरमुमकिन है।

इन बातों के रहते हुए इतना तो स्पष्ट है कि फ्रांस की राज्य क्रांति एक एतिहासिक अवस्था थी जिसने सड़ी हुई सामंतशाही को खत्म कर दिया और जिसके बिना फ्रांस में पूँजीवाद का विकास असम्भव था। क्रांति से जो लहर पैदा हुई, उसने निरंकुश राजाओं के सर पर चढ़कर सामंतशाही का खातमा कर दिया, जिसकी वजह से पूँजीवाद का विकास उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में दकियानूसी इटली,

जर्मनी तथा रूस तक में सम्भव हो सका। साथ ही फ़्रांस की राज्यक्रांति ने कला, विज्ञान तथा प्रगतिशील भावनाओं को अभूतपूर्व रूप में विकसित होने का मौक़ा दिया। विज्ञान व पूँजीवाद के गठबंधन ने समय और दूरी की दिक़्क़तों को बहुत हद तक हल कर दिया, प्रकृति पर मानव-विजय का पताका फहरा दिया तथा कारख़ानों के ज़रिये बहुत बड़े पैमाने पर चीज़ तैयार करने की क्षमता भी मनुष्य को दे दी।

रूस की क्रांति पूँजीपति व मज़दूर

१९१७ की क्रांति से पहले रूस शताब्दियों से निरंकुश ज़ारों के शासन में सामंत प्रथा की चक्की में पिसता आ रहा था। रूस ने अपने पड़ोस के मुल्कों और जातियों को क़ब्ज़े में लाकर के साम्राज्य भी बना लिया था। १६वीं शताब्दी में रूस का विस्तार प्रशान्त महासागर से लेकर काले सागर तक तथा पामीर की पहाड़ी भूमि से लेकर उत्तरीय ध्रुव तक फैल गया। इस साम्राज्य-विस्तार का बोझ रूस की जनता की कमर तोड़े डाल रहा था। रूस एक कृषि-प्रधान था, बड़े-बड़े गिरजों और सामंतों के हाथ में ज़मीन का स्वामित्व था। किसानों से ग़ुलामों की तरह काम लिया जाता था और बिना कसूर के उन्हें कोड़ों से मारा जाता। किसानों ने अपनी ग़रीबी व परेशानी से ऊब कर कितने ही विद्रोह

भी किये। १८४० के बाद तो किसानों के विद्रोह ने एक स्थायी रूप धारण कर लिया। क्रिमिया की लड़ाई में हार खाने के बाद ज़ार को किसानों के सामने थोड़ा झुकना पड़ा। १८६१ में एक क़ानून पासकर किसानों को अर्ध-ग़ुलामी से मुक्त किया गया और उन्हें ज़मीन पर कुछ अधिकार दिए गए। किसानों से कल कारख़ानों में भी काम लेना था। अतः पूँजीवाद के विकास के सामने हम सामंतशाही को झुकता हुआ पाते हैं। परन्तु किसानों की हालत में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। हरजाना और मालगुज़ारी देते-देते किसान तबाह रहते थे। किसानों को अपनी ज़रूरत से आधी ज़मीन भी नहीं मिल पायी थी। हिसाब लगाकर देखा गया है कि पूरी ज़मीन का एक तिहाई हिस्सा भी किसानों को नहीं मिला था। एक चौथाई भर ज़मीन मुट्ठी भर सामंतों के हाथ में, शेष एक तिहाई से ज़्यादा ज़ार गिरजा और सरकार के हाथों में रह गई थी। इसकी वजह से उनके विद्रोह की भावना मिटने के बजाय बढ़ती गई।

१८५० के बाद रूस में पूँजीवाद का फैलाव शुरू हुआ। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रेल बन गई तथा लोहे और कोयले की खानें बड़े-बड़े कारख़ानों में लोहा और कोयला पहुँचाने लगीं। १९वीं शताब्दी के ख़त्म होते-होते कल कारख़ानें बड़ी तेज़ी से खुल गये। शहरों की जनसंख्या भी बढ़ने

लगी। पेट्रोग्राड की आबादी २० लाख से भी ज्यादा, मास्को की क़रीब २० लाख और सौ से भी ज्यादा ऐसे शहर थे, जिनकी आबादी ५० हज़ार से भी ज्यादा हो गई। कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या ३० लाख से भी ज्यादा हो गयी। बड़े-बड़े कारखाने रूसी पोलैंड के पश्चिमी हिस्से, पेट्रोग्राड, मास्को के इर्द-गिर्द तथा डोन और निपर नदी के बीच के कोयला प्रधान भूभाग में केन्द्रित थे। मज़दूरों की हालत बहुत ही ख़राब थी। उन्हें बहुत ही कम मज़दूरी दी जाती और १८ घंटे तक काम लिया जाता था। इसी से मज़दूरों में वर्ग-चेतना शुरू हुई। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, जो १८९८ में बनी थी, मज़दूरों के बीच में बड़ी तेज़ी से अपना प्रभाव फैलाने लगी। पार्टी मार्क्सवादी सिद्धांतों पर क़ायम हुई थी और यह कारख़ानों पर मज़दूरों का तथा जमीन पर किसानों का प्रभाव जमाना चाहती थी। यह सामंतशाही और पूँजीवाद को खत्म कर देना चाहती थी। साथ ही राज्य पर मज़दूरों और किसानों का सम्मिलित प्रभुत्व क़ायम करना चाहती थी। इस पार्टी में दो दल थे—लेनिन के साथ में बोल्शेविक दल था, दूसरा दल था मंशेविकों का। लेनिन का दल पार्टी को क्रांतिकारी आधार पर संगठित करके क्रांति के द्वारा सामंतशाही, पूँजी-शाही व ज़ार को उखाड़कर किसानों और मज़दूरों का एका-धिपत्य क़ायम करना चाहता था। मंशेविक पार्टी को कुछ

ढीला रखना चाहते थे, पूँजीवादी लोकतंत्र को एक आवश्यक चीज़ मानते थे। साथ ही पूरे रूप से क्रांति में विश्वास कर पूँजीपतियों से मिलकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति सुधारों के द्वारा भी करने में विश्वास करते थे। दूसरी पार्टी, जो किसानों में काम करती थी, सोशल रेवोल्यूशनरी पार्टी थी। इसे हम किसान-पार्टी कह सकते हैं। मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे व्यक्ति इस पार्टी के अगुआ थे। वे सामंतशाही और ज़ारशाही को खत्म कर किसानों के बीच ज़मीन बाँट देने के पक्ष में थे। रूस के पूँजीपतियों का दल वैधानिक लोकतंत्रात्मक दल कहलाता था। इसका उद्देश्य वैधानिक राज्यतंत्र सुधारों के द्वारा स्थापित करना था। चूँकि रूस के रेल, कारखानों तथा खानों में फ्रांस, इँगलैंड और वेलजियम की काफ़ी पूँजी लगी हुई थी, इसी से रूसी पूँजीपतियों की संख्या वहुत कम थी। इसी वजह से रूस में मज़दूरों तथा किसानों की क्रांतिकारी शक्ति जितनी प्रबल थी, पूँजीवादियों की सुधारवादी भावना उतनी ही कमज़ोर और उनका राजनीतिक प्रभाव उतना ही कम था। रूस तो मुख्यतः तबाह किसान और मज़दूरों का देश था, जहाँ ज़ार और मुट्ठीभर कमज़ोर पूँजीवादी वर्ग उत्पादन के साधनों पर क़ब्ज़ा किये बैठे थे। एक ओर ग़रीबी, भूख और दोहन का दौरदौरा था, दूसरी ओर सम्पत्ति-विलास और शोषण का।

सन् १९०५ में विशाल रूस छोटे से जापान से हार गया।

बस फिर क्या था। तबाह मज़दूर और किसानों ने भी अँगड़ाई लेनी शुरू कर दी। साथ ही पराजित जातियों और मुल्कों के लोग, जो रूस की साम्राज्यशाही की चक्की में पिस रहे थे, और जिन्हें अपनी भाषा के बदले रूसी भाषा ही अपनी इच्छा के विरुद्ध पढ़ना पड़ता था, इस मौक़े से लाभ उठाने के लिए उतावले हो गये। पूँजीवादी भी, जो वैधानिक राज्यतंत्र की स्थापना करना चाहते थे, ज़ार के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाने लगे।

सन् १९०५ की २२ जनवरी को एक पादरी के नेतृत्व में मज़दूरों का एक जुलूस आवेदन-पत्र के साथ ज़ार के राजमहल के पास पहुँच गया। ज़ार की फ़ौज ने निहत्थे मज़दूरों पर गोलियाँ चलाईं। ५०० मारे गये तथा हज़ारों घायल हुए। मज़दूरों के आवेदन-पत्र का ज़ार के पास यही जवाब था। अब क्या था! क्रांति की ज्वाला धधक उठी। शहरों में मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। मज़दूरों की सोवियट बन गई, जिसके ज़िम्मे था हड़ताल को जारी रखना और हड़तालियों को सशस्त्र करना। देहातों में भी सामंतों के महल जलाए जाने लगे, रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गईं। पूँजीपतियों तथा कॉलेज के प्रोफ़ेसरों ने राज्य के शासन में सुधार की माँग पेश की। दलित जातियों, फ़िनलैंड, पोलैंड के रहनेवाले आन्दोलन में शरीक हो गये, सारे रूस की सारी क्रांतिकारी शक्तियाँ मिलकर ज़ारशाही की नींव हिलाने लगीं।

सन् १६०५ में ज़ार ने परिस्थिति को क़ाबू के बाहर जाते देख एक घोषणा-पत्र निकाला, जिसमें नागरिक स्वतन्त्रता देने की प्रतिज्ञा की और इस बात का भी एलान किया कि सभी वर्गों के वोट से चुनी गई ड्यूमा (Duma) के ज़रिये शासन किया जायगा। दूसरे शब्दों में उसका अर्थ यह था कि रूस निरंकुश शासन से मुक्त होकर वैधानिक राज्यतंत्र द्वारा ही राज्य-व्यवस्था चलायेगा। पूँजीवादी वर्ग तथा उनकी पार्टी—वैधानिक राज्यतंत्र पार्टी—इससे संतुष्ट हो गई और ज़ार से मिलकर खुले आम क्रांति का विरोध करने लगी। परंतु न किसानों को ज़मीन मिल पाई, न मज़दूरों की माँग पूरी हुई। इसी से उन्होंने अपने क्रांतिकारी कार्य जारी रक्खे। पेट्रोग्राड सोवियट के सदस्य गिरफ़्तार किये गये तथा मास्को के मज़दूरों को फ़ौजी ताक़त से कुचला जाने लगा। १६०६ के शुरू होते-होते क्रांति दबा दी गई और क्रांति के नेताओं को या तो फाँसी दे दी गई या उन्हें साइबेरिया के जंगली प्रदेश में सपरिश्रम कारावास का दंड देकर भेज दिया गया। यह क्रांति इसलिये निष्फल हुई, चूँकि क्रांतिकारी नेतृत्व का अभाव था और क्रांति के पूरे कार्य-क्रम मज़दूरों और किसानों के सामने नहीं रक्खे जा सके थे। ड्यूमा के साथ ज़ार ने खिलवाड़ करना शुरू कर दिया और उनके निश्चयों पर स्वीकृति की मुहर लगाने के बजाय दो बार उसे भंग कर दिया। १६०७ में ड्यूमा एक

भूलभुलैया की चीज रह गई, जिसमें ज़ार ने कोई राज-नीतिक अधिकार नहीं रहने दिया। ज़ार निरंकुश राजा बना रहा। १६०७ से १६१४ तक ज़ार की निरंकुशता से ऊबे हुए किसान ज़मीन नहीं पाने की वजह से अपना संगठन करके अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। शहरों में मज़दूर क्रांति की भावना से ओत-प्रोत होकर अपना संगठन मज़बूत करने के साथ-साथ आये दिन बड़ी-बड़ी हड़तालें करने लगे। १६१४ के ग्रीष्म काल में पेट्रोग्राड के मज़दूरों ने हड़ताल कर दी और ऐसा मालूम होने लगा कि १६०५ की पुनरावृत्ति हुआ चाहती है। लेकिन महासमर छिड़ते ही देश-रक्षा के नाम पर सारे देश का ध्यान युद्ध की ओर झुकाने में ज़ार को सफलता मिल गई। बोलशेविकों के अलावा सभी राजनीतिक पार्टियों ने ज़ार को मदद देने का आश्वासन दिया, चूँकि उनका विचार था कि युद्ध में मदद देने के बदले ज़ार उनकी माँग को एक हद तक मान ही लेगा। युद्ध में मदद न देने से उन्हें इस बात का भी भय होता था कि रूस की स्लाव जाति जर्मनी के निरंकुश शासन तथा ट्यूटन जाति के शासन में चली जायगी। मेंशेविक दल यूरोप के और देशों की समाजवादी पार्टी की तरह युद्ध छिड़ते ही देश-प्रेम के पूँजीवादी ढोंग में आकर मज़दूरों के हित तथा समाजवादी निश्चयों को भूल गया। लड़ाई में सरकार को मदद दी जाय, ऐसी नीति इस दल की भी रही। बोलशेविकों ने लेनिन

के नेतृत्व में लड़ाई में मदद नहीं देने की नीति तथा साम्राज्यवादी युद्ध को गृह-युद्ध में परिणत कर किसानों तथा मजदूरों की सरकार क़ायम करने का एलान किया। लेनिन उस समय देश से निकाला हुआ था। बाहर रह कर भी रूस तथा यूरोप के दूसरे देशों के मजदूरों की लड़ाई में मदद देकर अपने-अपने देश के पूँजीवादी सरकार को क़ायम रखने के बजाय युद्ध का विरोध करके देशों के मजदूरों की सम्मिलित शक्ति से समाजवादी क्रांति का मंत्र लेनिन बराबर ही फूँकता रहा। मजदूरों के दूसरे विश्व-संघ (Second International) में लड़ाई में अपनी-अपनी सरकारों को मदद करने की नीति का वह बराबर विरोध करता रहा। बोलशेविक दल रूस के मजदूरों और किसानों के संगठन को सुदृढ़ करने, सेना में प्रचार करने तथा अपने दल को मजबूत बनाने में संलग्न रहा।

ज़ार युद्ध में हार पर हार खाता गया। पूँजीवादी वर्ग तथा ड्यूमा सरकार की कमज़ोरी और निकम्मेपने से ऊब कर ज़ार तथा उसके समर्थक भू-स्वामियों की कड़ी आलोचनाएँ करने लगे। १६१६ के जाड़े में किसानों ने बलवे शुरू कर दिये और मजदूरों ने हड़ताल। युद्ध में लगी हुई फ़ौज कपड़े, जूते और ख़ुराक की कमी के कारण विद्रोह की भावना से भर गई। लेकिन इतने पर भी ज़ार का

रवैया नहीं बदला, भू-स्वामियों का भी नाच-रंग क़ायम रहा।

सन् १६१७ की जनवरी और फ़रवरी में मज़दूरों की ये हड़तालें फैलती चली गईं। किसानों का विद्रोह भी ज़ोर पकड़ता गया। फ़ौज में अनुशासन मंद होने लगा। इन सब बातों से घबड़ा कर ज़ार निकोलस द्वितीय ने ११ मार्च १६१७ को ड्यूमा के सदस्यों को घर लौट जाने और पेट्रोग्राड के हड़ताली मज़दूरों को काम पर लौट आने के लिए हुक्मनामा निकाला। फिर क्या था, क्रांति की आग धधक उठी। १२ मार्च १६१७ को रेलवे के हड़ताली मज़दूरों ने ज़ार को स्पेशल ट्रेन के द्वारा राजधानी लौटने से रोक दिया। पेट्रोग्राड के मज़दूरों ने फ़ौज के एक टुकड़े को अपनी ओर मिलाकर मज़दूरों और सैनिकों की एक पंचायत बना ली, जिसके ज़रिये स्थानीय सरकार चलने लगी। ड्यूमा के सदस्य घर लौटने के बदले अपनी जगह पर क़ायम रहे। ड्यूमा के सभापति ने ज़ार को एक प्रगतिशील मन्त्रिमंडल बनाने को कहा। परंतु क्रांति की लहर फैलती ही जा रही थी। फ़ौज ने कई जगहों पर विद्रोह कर दिया। मज़दूरों ने कई जगह हड़ताल जारी रख कर तथा सेनाओं के साथ मिलकर अनेक स्थानों में अस्थायी सरकार क़ायम कर ली। किसानों ने भू-स्वामियों के घर जलाकर तथा कर देना बन्द करके क्रांति के स्वरूप को बदल दिया। १५ मार्च को

बेचारे जार को गद्दी छोड़नी पड़ी। ड्यूमा और पेट्रोग्राड के सोवियट ने एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर ली। इस सरकार से बोलशेविक तथा मेंशेविक अलग रहे। पूँजीवादियों की वैधानिक लोकतंत्र पार्टी का इस सरकार में प्राधान्य रहा। इस सरकार ने हज़ारों राजनीतिक क़ैदियों को रिहा कर दिया तथा रूस से निकाले गए लोगों को देश लौटने की आज्ञा दे दी। फ़िनलैंड को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे दिया, पोलैंड को ऐसे ही अधिकार देने का वचन दिया गया। इस बात का एलान किया गया कि बालिग़ मताधिकार द्वारा चुनी हुई राष्ट्रीय विधान-परिषद् रूस के लिए लोकतंत्रवादी स्थायी विधान तैयार करेगी। युद्ध को जोश के साथ चलाने तथा पिछली हारों को जीत के रूप में बदलने का निश्चय भी इस सरकार ने किया। परंतु इस सरकार ने किसानों को भू-स्वामियों से छीनकर न ज़मीन ही दी, न मज़दूरों की माँग ही पूरी की। मार्च की इस क्रांति को हम बूर्ज्वा डेमोक्रैटिक क्रांति कहते हैं। इस क्रांति में जहाँ जार और भू-स्वामियों की राजनीतिक सत्ता ख़त्म हो गई, वहाँ पूँजीवादी वर्ग के हाथ में राजसत्ता चली गई। लेकिन ज़मीन का सवाल तथा मज़दूरों के हाथ में किसानों से मिलकर राजसत्ता लेने का सवाल किसानों और मज़दूरों के सामने रह ही गया।

अप्रैल महीने में लेनिन रूस लौटा और बोलशेविकों को दूसरी क्रांति करने तथा पूँजीपतियों के हाथ से राज्य की बागडोर लेने और किसानों तथा मज़दूरों की सरकार क़ायम करने की प्रेरणा देने लगा। जो पंचायतें मार्च-क्रांति के सिलसिले में बन गई थीं, वे अब सारे रूस में फैल गईं। किसानों, मज़दूरों तथा सैनिकों की पंचायतों की राष्ट्रीय कांग्रेस १९१७ के अप्रैल में बैठी, जिसने मज़दूरों, किसानों में ज़मीन बाँट देने, कारख़ानों का प्रबंध मज़दूरों के हाथ में देने, सैनिक प्रबंध सैनिक पंचायतों द्वारा किये जाने तथा युद्ध को "न दूसरे देशों को दख़ल किया जाय, न हरजाना माँगा जाय" की नीति पर जारी रखने की माँगों को अस्थायी सरकार के सामने पेश किया। फ़ौज में क्रांति की भावना ज़ोरों से फैलने लगी। सैनिकों ने पंचायतें बना लीं, तथा रद्दी अफ़सरों को हटाना शुरू किया। छुट्टी के विना ही सैनिक घर लौटने लगे। रूसी और जर्मन सैनिक आपस में दोस्ताना संबंध क़ायम करने लगे।

अस्थायी सरकार मज़दूरों, किसानों तथा सैनिकों की माँगों की तरफ़ से विमुख रही। इसके फल-स्वरूप युद्ध में कमज़ोरी बढ़ते देख तथा किसानों और मज़दूरों में विद्रोह की भावना फैलते देख सोशल रेवोल्यूशनरी तथा मेंशेविक नेताओं को नये मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। इस मंत्रिमंडल में केरेंस्की प्रमुख व्यक्ति था। लेकिन उसकी बात

भी नहीं चल सकी, क्योंकि जनता की माँगों को वह पूरा नहीं कर सका। युद्ध-नीति ने भी अड़चनें डालीं। लड़ाई में युद्ध के मोर्चे पर उसके जाने पर भी सैनिकों में उत्साह नहीं आ सका और कई मोर्चे पर उसकी हार हुई। अगस्त महीने में वह एक अर्थ में सर्वेसर्वा हो गया। पूँजीवादी गिरोह के कुछ सदस्य उससे अलग हो गये। क्योंकि वे उसे बहुत ही उग्र समझते थे। बोल्शेविक उसे किसान और मज़दूरों के हितों का दुश्मन मानकर उसका विरोध करते थे। हार पर हार होने के कारण मित्र राष्ट्र उसकी उपेक्षा करते थे। रूस की सेना उसकी आज्ञाओं की अवहेलना करने लगी थी।

अब बोल्शेविक तथा मेंशेविक दल की रीति-नीति में ज़मीन-आसमान का अंतर हो चुका था। मेंशेविक जहाँ केरेंस्की का साथ देते, वहाँ बोल्शेविक उसकी सरकार का विरोध करते। मेंशेविकों का ऐसा ख़याल था कि अस्थायी सरकार पूँजीवादी सरकार होने पर भी ऐसी है, जिससे लोकतंत्रवाद समाजवाद की ओर बढ़ सकता है। उनके विचार में रूस सामंतशाही से छुटकारा पाकर पूँजीवादी क्रांति के द्वारा एक ऐतिहासिक प्रगति कर चुका था। ऐसी हालत में उनके विचार में समाजवादी क्रांति की ओर देश को ले जाना ग़लत कार्रवाई थी। ठीक उसके विपरीत लेनिन का कहना था कि अस्थायी सरकार का निकम्मापन इसका

प्रबल प्रमाण है कि पूँजीवादी लोकतंत्रवाद से रूस के तत्कालीन सवाल याने ज़मीन, कारखाने तथा युद्ध के सवाल हल नहीं हो रहे थे। रूस का पूँजीवादी वर्ग संख्या और राजनीतिक शक्ति से कमज़ोर था। लेनिन ऐसी हालत में समाजवादी क्रांति को एक ऐतिहासिक आवश्यकता मानता था।

रूस की तत्कालीन अवस्था ने लेनिन के विचार की ही पुष्टि की। अस्थायी सरकार को समर्थन देने के कारण मज़दूरों की पंचायतों में जहाँ मेंशेविकों को प्रबल बहुमत प्राप्त थे, वहाँ अब मज़दूर अपनी माँगों को नामंज़ूर होते देख बोल्शेविकों को ही पंचायतों में बहुमत से चुनकर भेजने लगे। किसानों की पंचायतों में सोशल रेवोल्युशनरी पार्टी को ज़मीन का सवाल हल करते न देख वे बोल्शेविकों को काफ़ी संख्या में चुनने लगे। लड़ाई से थके हुए सैनिकों की पंचायतों में भी बोल्शेविकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती गई। रूसी साम्राज्य की दलित जातियों को स्वभाग्य-निर्णय का पक्का विश्वास दिलाने के कारण बोल्शेविकों का प्रभाव उनके बीच बढ़ने लगा।

केरेंस्की से किसान, मज़दूर, सैनिक सभी ऊब गये थे। लेनिन के नेतृत्व तथा बोल्शेविक पार्टी पर उनका विश्वास दिनोंदिन बढ़ता गया। लड़ाई की हारों ने तो मानों क्रांति की आग में घी का काम किया। बिना छुट्टी लिये घर पर

लौटे हुए सैनिक किसानों के विद्रोह में भाग लेने लगे। सितम्बर, अक्टूबर के महीनों में फ़ौज का अनुशासन-भंग, किसानों के विद्रोह तथा मज़दूरों की हड़तालों ने आनेवाली क्रांति की सूचना देनी शुरू कर दी। बोल्शेविक पार्टी ने परिस्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन करके यह निश्चय कर लिया कि ७वीं नवंबर को राज्य-शासन किसानों और मज़दूरों के क़ब्ज़े में कर लिया जाय। पार्टी के कुछ सदस्य इसे असामयिक समझते थे, परंतु लेनिन के ठोस नेतृत्व के कारण यह निश्चय अटल रहा। ऐसा ही हुआ भी। ७ नवम्बर १९१७ को पेट्रोग्राड के मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतों ने राज्य-शासन पर क़ब्ज़ा कर लिया। बहुत से भू-स्वामी मार डाले गये और बहुत से बाहर भाग गये। शहरों में मज़दूरों और सैनिकों की पंचायतों ने कारख़ानों, तार, रेलवे स्टेशनों तथा शासन-केन्द्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया, सैनिकों ने या तो खुले आम किसानों और मज़दूरों का साथ दिया, या अस्थायी सरकार के पतन का तमाशा देखा। इस तरह नवंबर की क्रांति में राज्य की बागडोर किसानों और मज़दूरों के हाथ में आ गई। बिना हर्जाना दिये ही भू-स्वामियों को ज़मीन के स्वामित्व से बेदख़ल कर दिया और किसानों को ज़मीन दे दी गई। खानों, जंगलों, रेलों, तारों तथा जहाज़ों इत्यादि को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। बिना हर्जाना दिये पूँजीपतियों से कारख़ाने ले लिए गये और मज़दूरों की

पंचायत के प्रबंध में दे दिये गये। पुरानी सरकार के क़र्ज़ों को मंसूख़ कर दिया गया। पुरानी शिक्षा-पद्धति रद्द कर दी गई तथा निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध सरकार की ओर से किया गया। रूस का पुराना झंडा हटाकर हँसिया, हथौड़ा का लाल झंडा माना जाने लगा। ज़ारों की मूर्तियाँ हटा दी गईं और उनकी जगह पर कार्ल मार्क्स और ऐंगेल्स की मूर्तियाँ रख दी गईं। लेनिन के नेतृत्व में रूस की किसान और मज़दूरों की सरकार ने मित्र राष्ट्रों से साफ़-साफ़ कह दिया कि साम्राज्यवादी युद्ध में अब रूस हिस्सा नहीं लेगा और शीघ्र ही यदि मित्र राष्ट्र इस बात को नहीं मान लेंगे कि इस युद्ध में न तो दूसरे देशों को दख़ल ही किया जायगा और न हरजाना ही लिया जायगा तो ऐसी हालत में रूस जर्मनी से अलग संधि कर लेगा। मित्र राष्ट्रों के चुप रहने पर १६१७ के दिसम्बर में रूस और जर्मनी के बीच विराम-संधि हो गई। इस संधि के मुताबिक़ पोलैंड, फ़िनलैंड, एस्टोनिया रूस को लौट आये। लिथुआनिया, युक्रेनिया, बेसारेबिया और ट्रांस कॉकेशिया खोना पड़ा। इन सभी जातियों को लेनिन ने स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे दिया। हालाँकि यूक्रेन व ट्रांस कॉकेशिया १६१८ के नवंबर में रूसी समाजवादी फ़ेडरेशन में आ मिले। रूस के विधान को पंचायती विधान कहते हैं। क्रांति के बाद मज़दूरों, किसानों, सैनिकों की राष्ट्रीय कांग्रेस के हाथों में पूरी राज-

सत्ता आ गई। जुलाई १६१८ में समाजवादी विधान बन गया। रूसी सरकार को सम्मिलित समाजवादी पंचायती प्रजातंत्र कहा जाने लगा। विधान के मुताबिक़ रूसी नागरिकों के लिए श्रम आवश्यक बना दिया गया। काम न करनेवालों की रोटी पाने का अनुचित अधिकार छीन लिया गया। पूँजीवादियों का कारख़ाना और धन तो छीना ही गया। यही हालत पादरियों, अमीरों तथा भू-स्वामियों की भी हुई। इसके साथ सभी काम करनेवालों को नागरिकता का अधिकार ही नहीं दिया गया, वरन् विधान के द्वारा उन्हें इस बात की गारंटी दी गई कि उन्हें जमीन या कारख़ानों में काम देना सरकार की जवाबदेही होगी। बच्चों के लालन-पालन, शिक्षा तथा स्वास्थ्य की जवाबदेही भी सरकार पर हुई। मज़दूरों और किसानों ने उत्पत्ति के साधनों पर क़ब्ज़ा करके तथा श्रम को सभी नागरिकों के लिये आवश्यक क़रार देकर मज़दूर-क्रांति को पूरा किया।

यह क्रांति ऐसी क्रांति हुई है जिससे किसानों, मज़दूरों तथा उनके नेताओं ने मार्क्सवाद के अनुसार रूस की परिस्थिति का गहरा अध्ययन करके तथा अध्ययन के नतीजों के मुताबिक़ क्रांति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा तत्सम्बन्धी कार्य-क्रमों को ठीक करके सफल बनाया है; जहाँ शोषकों को ख़त्म करके शोषित मज़दूर और किसान वर्गहीन समाज

की स्थापना में लगे हैं। गुलाम-युग में जहाँ हम उद्देश्य में अस्पष्टता तथा कार्य-क्रम को अवैज्ञानिक और अनियमित पाते हैं, सामंत-युग को ख़त्म करने के लिये जहाँ हम पूँजीवादी क्रांति (फ्रांस की राज्य-क्रांति) में उद्देश्य की अस्पष्टता तथा कार्य-क्रम की नियमितता में अपेक्षाकृत कमी पाते हैं, वहाँ पर मज़दूरों की क्रांति में उद्देश्य और कार्य-क्रम में स्पष्टता है। साथ ही जहाँ पूँजीवादी क्रांति में पूँजीवादी जनता की मदद लेने के लिए क्रांति के उद्देश्य को चिकनी चुपड़ी बातों से भर देते हैं, जैसा कि फ्रांस की राज्य-क्रांति में 'समानता, स्वतंत्रता तथा बंधुत्व' के नारे से हुआ, वहाँ हम मज़दूर-क्रांति के उद्देश्य को क्रांति होते होते कार्यान्वित होते पाते हैं। जहाँ पहले की क्रांति में मज़दूर इतिहास के विकास के अंध सहायकमात्र थे, वहाँ रूस की मज़दूर-क्रांति में मजदूरों तथा उनके सहायक किसानों के सामने साधन और साध्य स्पष्ट थे। उन्होंने समझ बूझकर इतिहास बनाया।

भविष्य का वर्गविहीन समाज

मानव इतिहास पर विचार करते हुए हमने यह देखा कि मानव समाज किस तरह आदि काल के वर्गविहीन समाज से विकसित होकर स्वामी—दास, सामंत—अर्द्ध-दास,

और पूँजीपति—मज़दूर वर्ग में बँट गया। आज सोवियट रूस में हम किसानों और मज़दूरों के हाथ में राज्याधिकार देखते हैं, जहाँ भू-स्वामियों तथा पूँजीपति वर्ग का ख़ातमा हो गया है। दुनिया के शेष हिस्सों में भी पूँजीवाद, फ़ासिज़्म, अर्थ-संकटों और युद्धों से जर्जर होकर समाजवादी क्रांति का पथ अनुसरण करके ही रहेगा। इसमें विलम्ब चाहे जितना हो, परंतु पूँजीवाद के विकास का तवारीख़ी तक़ाज़ा यही है।

समाजवादी क्रांति का अर्थ है, वर्ग युद्ध का ख़ातमा होना, यानी समाज के शोषक और शोषित वर्गों में बँटे रहने के बजाय शोषकविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना। अब सवाल यह है कि वर्गविहीन समाज कैसा होगा और उसकी स्थापना किस तरह हो सकती है ?

उत्पत्ति के साधनों ज़मीन, कारख़ाना, खान आदि पर किसानों और मज़दूरों यानी समाज का एकाधिकार होना वर्गविहीन समाज की स्थापना की प्रारम्भिक आवश्यकता है और ऐसा तभी सम्भव है जब कि शोषितों के हाथ में राज्य की बागडोर रहे। नहीं तो भू-स्वामी और पूँजीपति अपना रवैया जारी रखकर किसान और मज़दूरों का दोहन करते ही रहेंगे। उत्पत्ति के साधनों पर तथा राज्य पर मज़दूरों और किसानों का एकाधिकार होते ही वर्गविहीन समाज की स्थापना का काम आरम्भ हो जाता है। राज्य-

व्यवस्था अब तक शोषकों द्वारा शोषितों को दबाकर रखने का एक अस्त्र ही है। मज़दूर-क्रांति के बाद, हालाँकि किसान और मज़दूर शोषक नहीं बन जाते, फिर भी बेदखल किये गए भू-स्वामियों और पूँजीपतियों के विरोध को और षड्यंत्र को असफल करने और उन्हें सदा के लिए खत्म करने के लिए किसानों और मज़दूरों की पंचायती सरकार की आवश्यकता हो जाती है। इस तरह वर्ग-विहीन समाज को स्थापना के शुरू में राज्य-व्यवस्था का रहना भी एक ऐतिहासिक आवश्यकता है।

लेकिन अब किसानों का सवाल कठिन रूप धारण कर लेता है। मज़दूर-क्रांति के बाद भू-स्वामी तो रह नहीं पाते। परंतु किसानों के क़ब्ज़े में अगर ज़मीन आ जाय तो क्या हम किसानों को सुख-चैन से रहते देख सकते हैं? यदि खेती के तरीक़े दक़ियानूसी ही रहें इसी तरह के हल बैल से काम लिया गया, तो क्या किसानों को उतनी पैदावार हो सकती है, जितनी से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें? यदि किसानों के बीच बँटी हुई ज़मीन वर्ग-विहीन समाज की एक स्थायी व्यवस्था मान ली जाय, तो क्या थोड़े ही वर्षों में किसानों की संतानों में ज़मीन छोटे-छोटे असमान टुकड़ों में बँट कर सामाजिक विषमता नहीं पैदा कर देगी? इसलिये ज़मीन की पैदावार को बाँटने तथा ग्रामीण जीवन की विषमता को दूर करने के लिए यह ज़रूरी

हो जाता है कि सम्मिलित खेती हो और खेती में ट्रैक्टर आदि इस्तेमाल किया जाय। सम्मिलित खेती के लिए किसानों को एकाएक राज़ी नहीं किया जा सकता है, चूँकि वे सदियों से व्यक्तिगत सम्पत्ति रखते आये हैं। अपनी ज़मीन और उसकी पैदावार में उनका विशेष मोह रहता है। इसलिये यह ज़रूरी हो जाता है कि सम्मिलित खेती के बदले सहयोग खेती के ज़रिए (co-operative farming) किसानों में सहकारिता का भाव लाया जाय। सहयोग खेती में सहयोग के ज़रिये खेती करने तथा मशीनों का इस्तेमाल करने के बाद किसानों की मनोवृत्ति ऐसी हो जाती है कि उनमें व्यक्तिगत दृष्टिकोण के बदले सामाजिक दृष्टिकोण प्रमुख होने लगता है, जिसके फलस्वरूप वे सम्मिलित खेती को सहर्ष अपनाने लगते हैं। सम्मिलित खेती में खेत सम्मिलित स्वामित्व में रहता है, उसी तरह खेती के साधन और उसकी पैदावार भी।

वर्गविहीन समाज में श्रम करना सभी नागरिकों के लिये आवश्यक रहता है। जो श्रम नहीं करते, जो किसी भी तरह के शारीरिक या मानसिक श्रम से भागते हैं, उन्हें समाज में स्थान नहीं मिल सकता। समाज श्रम पर ही अवलंबित है। पूँजीवादी या उसके पहले की समाज-व्यवस्था में श्रम करनेवालों के दोहन पर मुट्ठी भर स्वामी, सामंत, अमीर तथा पूँजीपति बिना श्रम किये ही आराम और सुख चैन

की जिन्दगी बिताते हैं, वर्गविहीन समाज की स्थापना में यह जरूरी हो जाता है कि मानसिक या शारीरिक श्रम करनेवाले ही उस समाज के नागरिक रहें तथा दूसरों के श्रम पर जीनेवालों के लिए उस समाज में कोई स्थान न रहे। अब सवाल यह है कि श्रम करनेवालों को श्रम की पैदावार याने मानव आवश्यकता की चीजें किस नियम या हिसाब से दी जायँ। मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि "वर्गविहीन समाज यानी समाजवादी समाज के सदस्य अपनी योग्यता भर काम करेंगे और अपनी आवश्यकताओं के मुताबिक विभिन्न सामग्रियों को पायेंगे।" लेकिन यह तभी सम्भव होगा जब कि वर्गविहीन समाज का हर व्यक्ति व्यक्तिगत आवश्यकता महसूस कर काम करे न कि समाज के दबाव से। सम्पत्ति के साधन और पैदावार का विकास जब तक इतने व्यापक और प्रचुर न हों कि वर्गविहीन समाज के हर सदस्य को अपनी आवश्यकताओं के मुताबिक सामग्रियाँ मिलने लगें तब तक समाजवादी अर्थ में हर व्यक्ति न तो श्रम को व्यक्तिगत आवश्यकता समझकर बिना किसी दबाव के अपनी योग्यता-भर श्रम ही कर सकता है और न समानता, सर्वांगीन विकास और उच्च कोटि की संस्कृति से पैदा हुआ स्वाभाविक अनुशासन ही उपलब्ध हो सकता है।

वर्गविहीन समाज में उत्पत्ति की प्रचुरता लाने के लिए उन मुल्कों में जहाँ पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ है, जैसे

एशिया के मुल्क, बालकन के मुल्क, दक्षिणी अमेरिका आदि को काफ़ी दिक़्क़तों का सामना करना होगा। इन मुल्कों में उपयोग की सामग्रियों की पैदावार तब तक नहीं बढ़ सकती, जब तक बड़े-बड़े कारख़ाने, मशीन आदि उत्पत्ति के साधनों का निर्माण न हो जाय। लेकिन इन कारख़ानों के निर्माण में समाज का जितना श्रम लगेगा, उतना ही उपभोग की सामग्रियों की पैदावार में समाज का श्रम कम लगेगा। इसके फलस्वरूप वर्ग-विहीन समाज के निर्माण के प्रारम्भिक काल में ऐसे मुल्कों में समाज के हर व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं से बहुत ही कम उपभोग की सामग्रियाँ मिल सकेंगी। हाँ, आयोजित अर्थ-नीति के मुताबिक़ कल-कारख़ानों के बड़े पैमाने पर क़ायम हो जाने पर जब समाज का श्रम मुख्यतः उपभोग की सामग्रियाँ बनाने में लगेगा तब समाज की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जायगी, जो समाज में प्रचुरता ला सकेगी।

इन पिछड़े हुए मुल्कों तथा इँगलैंड, फ्रांस आदि पूर्ण विकसित देशों में भी उत्पत्ति के साधनों पर श्रमिकों का अधिकार होते ही मार्क्स के उपर्युक्त सूत्र के मुताबिक एक बा एक यह काम नहीं किया जा सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, पिछड़े मुल्कों में तो उत्पत्ति के साधनों के निर्माण में ही काफ़ी समय लगेगा। परन्तु एक दिक़्क़त और है, जिसे पिछड़े हुए मुल्क तथा विकसित मुल्क, दोनों में सामना करना

होगा। वह दिक्कत मानव-स्वभाव से सम्बन्ध रखती है। उत्पत्ति के साधनों पर श्रमिकों का क़ब्ज़ा हो जाने के बाद भी पूँजीवादी मनोवृत्ति का तुरन्त ही नाश हो जाना सम्भव नहीं। व्यक्तिगत दृष्टिकोण के ख़तम होने और सामाजिक दृष्टिकोण के क़ायम होने में समय का लगना ज़रूरी है। अब तक मनुष्य ने मेरे-तेरे का विचार जो व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उपभोग की सामग्रियों में रक्खा है। यह विचार-धारा मनुष्य में इतनी प्रबल हो गई है कि मज़दूरों के एकाधिकार प्राप्त व्यवस्था के प्रारंभिक काल में वह किसी-न-किसी रूप में रहेगी ही। अब तक मनुष्य सामाजिक दबाव से काम करता रहा है। काम नहीं करेंगे, तो खाना नहीं मिलेगा, इसी दबाव ने मनुष्य से काम कराया है। मान लीजिये कि इँगलैंड में मज़दूरों ने उत्पत्ति के साधनों पर क़ब्ज़ा कर लिया तो भी क्या मार्क्स के मुताबिक समाज की व्यवस्था सहसा चालू की जा सकती है? नहीं। क्योंकि जिस तरह वहाँ पूँजीपतियों को फिर से सिर उठाने से रोकने के लिये मज़दूरों के एकाधिकार प्राप्त राज्य-व्यवस्था की ज़रूरत होगी, उसी तरह दबाव से काम करने के अभ्यस्त मज़दूरों की उत्पत्ति की प्रचुरता के लिये सामाजिक नियमों तथा दबाव की आवश्यकता होगी। जब श्रमिक नए व्यवस्था के उत्पादन तथा वितरण, शिक्षा, सांस्कृतिक विकास आदि से सामाजिक मनोवृत्ति प्राप्त कर लेंगे, तभी वे बिना दबाव के श्रम करना

व्यक्तिगत आवश्यकता समझने लगेंगे। ठीक उसी तरह जिस तरह कि वे खेल-कूद तथा प्रेम को व्यक्तिगत आवश्यकता समझते हैं। सामग्रियों की प्रचुरता की उपलब्धि के साथ-साथ मानव-स्वभाव के इस परिवर्तन से ही, जिसमें व्यक्ति का दृष्टिकोण सामाजिक दृष्टिकोण होगा, मार्क्स का सूत्र लागू हो सकेगा और तभी समाज वर्ग-विहीन समाज बन सकेगा। पिछड़े मुल्कों में सामग्रियों की प्रचुरता तथा सामाजिक दृष्टिकोण की तैयारी में काफ़ी समय लग सकता है। पूँजीवाद का जिन मुल्कों में पूरा विकास हो गया, वहाँ वर्ग-विहीन समाज की स्थापना में अपेक्षाकृत कम समय लगेगा।

अब सवाल यह है कि परिवर्तन-काल में श्रमिकों से श्रम किस नियम के अनुसार लिया जाय। जैसा कि ऊपर बताया गया है, परिवर्तन-काल में श्रम नहीं करनेवालों को नागरिकता का अधिकार नहीं मिल सकता, लेकिन इस काल में काम करनेवालों को क्या मिलेगा? परिवर्तन-काल में श्रमिकों के श्रम से जो पैदावार होगी, उसे उन्हें काम के परिमाण के अनुपात से देने के सिवाय कोई दूसरा रास्ता व्यावहारिक नहीं मालूम होता। इस काल में व्यक्तिगत दृष्टिकोण रहने की वजह से हर श्रमिक के काम के परिमाण के अनुपात से, उपभोग के सामान को वितरण करना, काम करने का प्रोत्साहन, प्रलोभन (incentive) होगा। इस

प्रलोभन को नए समाज के विकास के सिलसिले में, आयोजित अर्थ-नीति के ज़रिए प्राप्त प्रचुरता के साथ-साथ मानव-स्वभाव के विकसित होने तथा सामाजिक दृष्टिकोण क़ायम होने पर हम ख़तम होते पायेंगे। और तब काम करने के लिये न प्रलोभन की ज़रूरत होगी, और न दबाव की ही। वैसी हालत में मार्क्स के सूत्र के मुताबिक सभी व्यक्ति बिना किसी दबाव के अपनी इच्छा से व्यक्तिगत आवश्यकता समझकर काम करेंगे और समाज की प्रचुर सामाग्रियों का अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग करेंगे। उस समय पूँजीवादी मनोवृत्ति तथा पूँजीवादी शक्ति का नामोनिशान भी न रह जायगा और न रह पायेगी राज्य-व्यवस्था। मज़दूरों की एकाधिकार प्राप्त राज्य-व्यवस्था धीरे-धीरे ख़तम होकर वर्ग-हीन समाज स्थानीय पंचायतों द्वारा अपनी आर्थिक व सांस्कृतिक कार्यों को चलाएगा। राज्य-व्यवस्था के साथ-साथ राजनीति भी निरर्थक पीड़ा हो जायगी।

वर्ग-विहीन समाज में सांस्कृतिक तथा भाषा-सम्बन्धी प्रश्न आप-से-आप सुलझ जायगे। सभी को अपनी भाषा में लिखने और बोलने की पूरी आज़ादी रहेगी। हर मुल्क की संस्कृति की विशेषतायें क़ायम रहेंगी, जिस पर वर्ग-विहीन समाज की विशेषताओं की छाप होगी। औरत और मर्द असली माने में एक दूसरे के बराबर

स्थान पायेंगे। न मनुष्य मनुष्य का दोहन करेगा, न एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का, न आज की तरह आर्थिक संकट होंगे, न लड़ाइयाँ होंगी। प्रकृति पर उत्तरोतर पूरी विजय पाकर तथा सामाजिक गठन को स्वेच्छा से निर्द्धारित और प्रसारित करके मनुष्य अपनी क़िस्मत और अपने इतिहास का स्वयं निर्माता होता। मनुष्य सामाजिक संगठन का गुलाम न होकर उसका बनानेवाला और परिचालक होगा। मनुष्य के बीच दोहन तो दूर रहे, हिंसा का भी स्थान नहीं होगा। लोकमत तथा स्थानीय समितियों द्वारा ही समाज के सभी काम परिचालित होंगे। हिंसा, दबाव, दोहन, फ़ौज और राज्य-व्यवस्था सभी का ख़ातमा हो जायगा, और मनुष्य में स्वाभाविक तौर पर सहयोग, भाई-चारा, स्नेह-भावना, संयमित प्रकृति तथा अहिंसात्मक भावना रहेगी। सभी शौक से काम करें, और अपनी आवश्यकताओं के मुताबिक सामग्रियाँ पा सकेंगे।

वर्ग क्या है ?

इतना लिख जाने के बाद हम वर्ग की परिभाषा यों कर सकते हैं। समाज में जो लोग एक ही प्रकार से उत्पादन के कार्य में लगे हुए रहते हैं, वे सब मिलकर एक वर्ग कहे जाते हैं, अर्थात् जिनका उत्पादन सम्बंध एक-सा है, वे आपस में एक वर्ग के सदृश हैं। जैसे आजकल हम पाते हैं कि

इस पूँजीवादी युग में दो प्रमुख वर्ग हैं, एक पूँजीपति वर्ग, दूसरा मज़दूर वर्ग। पूँजीपतियों का एक वर्ग इसलिये है कि वे उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं, और मज़दूरों से अपने मुनाफ़े के लिए चीज़ें तैयार करवाते हैं। हाँ, यह सही है कि हरएक पूँजीपति एक ही कार्य नहीं करता है, कोई कपड़े की मिल का मालिक है, कोई जूता फ़ैक्टरी का, कोई अन्य चीज़ों का। परंतु मज़दूरों से सबका संबंध एक ही सा है। सभी मज़दूरी देकर मज़दूरों से काम लेते हैं और माल तैयार करवाकर बेचते हैं। इसी प्रकार मज़दूर वर्ग में भी लोग अलग-अलग कामों में लगे हुए हैं, परन्तु पूँजी-पतियों के साथ उनका संबंध एक-सा है। सभी अपने शारीरिक (श्रम) शक्ति को बेचकर जीविकोपार्जन करने को बाध्य हैं और सभी मज़दूर, शोषित हैं। पूँजीपति वर्ग का स्वार्थ अलग है, वे कम-से-कम मज़दूरी देकर मज़दूरों का शोषण करते हैं और व्यक्तिगत मुनाफ़े के लिये चीज़ों का उत्पादन करते हैं। पूँजीवादी प्रथा को शक्तिशाली बनाये रखने के लिये वे राज्य-शक्ति पर पूरा अधिकार रखते हैं और ग़रीब वर्ग को दबाये रखते हैं। दूसरी तरफ़ मज़दूर वर्ग का स्वार्थ इनके विपरीत है। वह अधिक-से-अधिक मज़दूरी की माँग करता है और चेतन एवं संगठित हो जाने पर पूँजीपतियों के हाथों से शासन-सूत्र भी छीन लेने के लिये प्रयत्नशील रहता है।

यहाँ पर हम इस बात का ध्यान रक्खें कि जाति वर्ग नहीं है। एक ही जाति के लोग गरीब और अमीर भी हैं। अब जैसे एक हिंदू-जाति का मिल-मालिक रहता है और उसके मील में काम करनेवाले हिंदू मज़दूर भी रहते हैं, जिनका वह शोषण क रताहै। यानी एक हिंदू पूँजीपति का हिंदू मज़दूर के साथ का उत्पादन संबंध आर्थिक संबंध एक-सा नहीं है। इन दोनों हिन्दुओं का स्वार्थ परस्पर विरोधी है। इसलिये एक जाति के होते हुए भी एक वर्ग के नहीं हो सकते, वरन् दो वर्ग के हुए। अतः जाति वर्ग नहीं है।

यह भी हमें समझ लेना है कि पेशा वर्ग नहीं है। जैसे कोई बढ़ई का काम करता है, लेकिन वह बढ़ई वर्ग का नहीं कहा जा सकता। कोई खेती का काम करता है, परंतु वह खेती वर्ग का नहीं कहा जा सकता। हम देखते हैं कि खेती करनेवाले का एक भाग अमीर होते-होते सामंत हो जाता है और एक भाग खेती आदि से बेदख़ल होकर मज़दूर बन जाता है। अतः पेशा भी वर्ग नहीं कहा जा सकता। एक मज़दूर जो मज़दूरी पर जूते तैयार करता है और बेचता है, दूसरा एक मिल-मालिक जो अपनी फैक्ट-रियों में जूते तैयार करवाता है और बिक्री करवाता है, एक वर्ग के नहीं हैं, यद्यपि पेशा दोनों का एक ही है— जूतों का कारबार करना। इसलिये पेशा को वर्ग नहीं कहा जा सकता।

बहुत से लोग आमदनी पर वर्गों का बटवारा करते हैं, परंतु यह भी ग़लत है। अब एक माप मान लिया जाय कि जिसकी आमदनी १० हज़ार की है, उसे पूँजीपतियों में गिना जाय या इसी प्रकार कई एक विभाग किये जायँ। परन्तु ऐसी सीमा बना देना बड़ा कठिन काम है, और इसमें भूल भी हो जायगी। कितनी आमदनीवाला शोषण करता है और कितनी आमदनीवाला शोषित है, इसका विभाग करना मुश्किल हो जायगा। अतः यह भी ग़लत है।

इस तरह हम देखते हैं कि मानव समाज में जब से वर्ग-विभेद हुआ है, मुख्यतः दो ही वर्ग हैं, एक शोषक और दूसरा शोषित। जैसे शुरू-शुरू में हमने देखा कि जब वर्ग-विभेद हुआ, तब मालिक (शोषक) और ग़ुलाम (शोषित) पाये जाते हैं। विकास होने पर सामंत (शोषक) और अर्द्ध दास (शोषित) पाये जाते हैं। और आजकल पूँजीपति (शोषक) और मज़दूर (शोषित)।

बीच में और भी कई एक वर्ग हो जाते हैं, जिनका महत्त्व अधिक नहीं है, क्योंकि उनकी स्थिति समान नहीं है, स्थायी नहीं है और वे विकास की एक अवस्था में यों शोषक-वर्ग में परिणत हो जाते हैं या शोषित वर्ग में। इन्हें हम मध्यस्थ वर्ग (Intermediary classes) कहते हैं। इस वर्ग में छोटे-छोटे खुशहाल किसान, मानसिक

कार्य करनेवाले वकील, डॉक्टर, लेखक, चित्रकार, वैज्ञानिक, एजेन्ट आदि हैं। इनकी भी हालत अच्छी नहीं रहती है। ये जिसमें अपना स्वार्थ देखते हैं, उन्हीं में मिल जाते हैं। अतः हम इन्हें कभी शोषकों का साथ देते पाते हैं, तो कभी मजदूरों का (शोषितों)।

एक और वर्ग है जो समाज के लिये न कोई उत्पादन का कार्य ही करता है, और न उत्पादन के साधनों का मालिक ही है, जैसे आवारे, भिखमंगे आदि। इन्हें Lumpen proletariat कहते हैं। चूँकि ये स्वयं कोई कार्य नहीं करते, जिसमें समाज के लिये उत्पादक श्रम कर उसे लाभ पहुँचा सके, इसलिए इनका शोषण भी नहीं होता। इसी वर्ग में आवारे, चोर, डकैत आदि सब आ जाते हैं।

अब हम समाजवादियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए कि कौन-सा ऐसा वर्ग है, जो समाज का मौलिक परिवर्तन कर सकता है, जो इस पूँजीवादी व्यवस्था को ख़तम करके समाजवादी व्यवस्था ला सकता है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी बुखारिन ने किसान, मजदूर और लुम्पेन प्रोलेतारियत वर्गों के गुणों पर अलग-अलग विचार किया है, और यह बहुत मार्के की खोज है। नीचे यह स्पष्ट है। (+) का मतलब है कि इस वर्ग में यह गुण है और (—) का मतलब है, नहीं है।

	किसान	मज़दूर	लुम्पेन प्रोलेतारियत
(१) आर्थिक शोषण	+	+	—
(२) राजनीतिक उत्पीड़न	+	+	+
(३) दरिद्रता	+	+	+
(४) उत्पादन करनेवाले	+	+	—
(५) व्यक्तिगत सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त	—	+	+
(६) काम करने में संघबद्धता	—	+	—

हम इनमें से अलग-अलग वर्गों को लेकर विचार करें। पहले हम लुम्पेन प्रोलेतारियत वर्ग की अवस्था और मनोवृत्ति पर विचार करते हैं। इस वर्ग का आर्थिक शोषण नहीं होता है क्योंकि यह वर्ग कुछ पैदा नहीं करता है। अतः इसमें यह भावना नहीं जग सकती कि यह दूसरों द्वारा शोषित होता है, जिसका अंत करना आवश्यक है। इस वर्ग की सबसे बड़ी कमजोरी यहीं पर है। राजनीतिक उत्पीड़न इसका होता है, यह शासन के कार्यों में योग नहीं दे सकता, इसे वोट आदि देने का हक़ नहीं रहता है और इस पर ruling classes शासक वर्ग-द्वारा जुल्म होता है। इसके कष्टों की सुनवाई नहीं होती और स्वभावतः राज्य के प्रति इसे घृणा होती है। इसी वर्ग के विचारों द्वारा प्रभावित हम अराजकतावादियों (anarchists) को पाते हैं; जो किसी प्रकार की राजसत्ता को नहीं स्वीकार करते, हरएक व्यवस्था का ये

विरोध करते हैं, किसी भी नियम या संगठन के ये विरोधी हैं। इस प्रकार वे जो कुछ स्वयं कहते हैं, उसके भी विरोधी हो जाते हैं। अतः इनका कोई निश्चित ध्येय नहीं होता और न इनका विचार ही लाभदायक है। ये ग़रीब हैं जरूर और इनके पास व्यक्तिगत सम्पत्ति भी नहीं होती। परन्तु ये संगठित रूप से लड़ने के आदी नहीं। इस वर्ग से हम देखते हैं कि इस समाज का ख़ातमा भी नहीं हो सकता। चूँकि ये उत्पादन-कार्य नहीं करते, अतः नव समाज का निर्माण भी नहीं कर सकते हैं।

अब हम किसान-वर्ग को लें, जिसका हिन्दुस्तान में बहुमत भी है। यह वर्ग 'लुम्पेन प्रोलेतारियत' से कहीं उन्नत है। उत्पादन भी करता है। अतः इसमें निर्माण करने का अभ्यास और इसकी प्रवृत्ति भी है। सामंतों, महाजनों तथा ज़मीदारों द्वारा इसका आर्थिक शोषण भी होता है, और इसको राजनीतिक अधिकार भी नहीं है, जिसकी मदद से वह इन ज़ुल्मों को वंद कर सके। यह वर्ग उत्पादन करने पर भी बहुत ग़रीब है और अपनी ग़रीबी को दूर करने की भावना भी इस वर्ग में दीख पड़ती है। परन्तु इसमें दो बड़ी ख़ामियाँ या अवगुण भी हैं, जो समाजवादी व्यवस्था के सहायक ही नहीं, बल्कि विरोधी भी हो सकते हैं।

इनमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना मौजूद रहती है। खेती के छोटे-छोटे टुकड़ों पर इसका व्यक्तिगत अधिकार

है, और वह सोच भी नहीं सकता कि उसे इस उत्पादन के साधन से बेदखल कर दिया जाय। वह इसमें चिपका रहता है और इसलिये यह वर्ग जब बातें करेगा, तब अपने खेत और खलिहान की ही। चूँकि कृषि का कार्य यह अकेले अलग-अलग करता है, इसी लिये जहाँ तक उसका निजी स्वार्थ है, वहीं तक बोलने को तैयार रहता है। इतिहास में हम देख चुके हैं कि इस व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रवृत्ति ने ही वर्गों को पैदा किया, मानव—समाज में तरह-तरह की कुरीतियाँ, चोरी, डकैती, बेकारी, अधर्म और अज्ञानता पैदा किया है। साथ ही समाजवादी व्यवस्था के लिये यह आवश्यक है कि इस व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश कर दिया जाय और उत्पादन के सभी साधनों पर किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, बल्कि सारे समाज का सम्मिलित अधिकार रहे। अतः यह वर्ग भी आगे चलकर रोड़े का काम कर सकता, फिर इसमें संघशक्ति की कमी है, यह वर्ग एक जगह मज़दूरों की भाँति इकट्ठा नहीं रहता है। अलग-अलग फैला रहता है। अतः आसानी से इसका सुदृढ़ संगठन नहीं होता। अतः हम देखते हैं कि इस वर्ग में वैयक्तिक सम्पत्ति की भावना और संघ-शक्ति की कमी, ये दो बड़ी ख़राबियाँ हैं। अतएव यह वर्ग भी पूरी तरह क्रांतिकारी नहीं हो सकता।

हाँ! राजनीतिक आन्दोलनों में इस वर्ग का प्रमुख हाथ

रहता है, क्योंकि टैक्सों के बोझ से यह ऊबा रहता है इसलिये हमें इसे साथ लेना आवश्यक है, सभी किसानों पर इतना क़र्ज़ है कि वे दिवालियापन की सीमा पर पहुँच चुके हैं। धीरे-धीरे उनकी ज़मीनें महाजनों के हाथों में जा रही हैं, जो बची हुई हैं, वह कब तक बची रहेंगी। विशेष कर हिन्दुस्तान में, जहाँ वे राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया ग़ुलाम हैं, यह वर्ग सामंतों व ज़मींदारों के ज़ुल्म से भी ऊबा रहत है, अतः उनकी हस्ती ख़त्म करने के लिये इस वर्ग की सहायता की ज़रूरत भी पड़ेगी। हाँ, जब मज़-दूरों का राज्य क़ायम हो जायगा, तब state farming और co-operative farming तथा collective farming के द्वारा इन्हें धीरे-धीरे लाभ दिखलाकर, इन्हें शिक्षित कर और इनमें विश्वास पैदाकर वैयक्तिक सम्पत्ति का भी ख़ातमा कर दिया जायगा। इस तरह हम देखते हैं कि, श्रमिकों का राज्य क़ायम करने के लिए तथा उसके बाद भी इस वर्ग की सहायता की बहुत ज़रूरत पड़ेगी। इसे हम न भूलें।

अब हम मज़दूर-वर्ग की हालत और मनोवृत्ति पर नज़र दौड़ायें। हम देखते हैं कि इस वर्ग का आर्थिक शोषण होता है, यह कारखानें आदि में काम करता है और जितने मूल्य की चीज़ें तैयार करता है, उतनी मज़दूरी नहीं पाता। पूँजी-पति जानता है कि सिर्फ़ मज़दूरों के शोषण से भी अतिरिक्त मूल्य (surplus value) उसके हाथ लगता है जिससे

उसका मुनाफ़ा होता है। अतः जब से हम इन दो वर्गों का आविर्भाव देखते हैं, तब ही से दोनों आपस में लड़ते पाये जाते हैं। पूँजीपति चाहता है कि चीजों को तैयार करने में कम-से-कम खर्च पड़े। उसे कम-से-कम मजदूरी देनी पड़े और दूसरी तरफ़ मजदूर देखता है कि वह दिन-भर काम करके भी भर पेट अन्न नहीं पाता, और मेहनत नहीं करनेवाला पूँजीपति महल-पर-महल खड़े किये जा रहा है। जरूरत पड़ने पर तैयार माल को भी अतिरिक्त उत्पादन के नाम से बर्बाद कर देता है, जब कि उसी समय लाखों-करोड़ों मजदूर बेकार होकर भूख से अकाल ही मरते रहते हैं। मजदूर तब पूँजीपति से मोर्चा लेता है, हड़ताल करता है। किन्तु चूँकि राजशक्ति उसके शोषक पूँजीपति वर्ग के हाथों में ही है, वह सफल नहीं हो पाता। पूँजीपतियों के पैसों पर जीनेवाले अफ़सर, पुलिस और अदालत मजदूरों की मुख़ालिफ़त करते हैं और क़दम-क़दम पर उन्हें आगे बढ़ने से रोकते हैं। इस प्रकार वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था से उसे विक्षेप होता है और वह पूँजीपतियों (आर्थिक शोषकों) के साथ-साथ वर्तमान (राज्य) State राजनीतिक शोषक का भी दुश्मन बन जाता है और इस नतीजे पर पहुँचता है कि जब तक पूँजीपति और राज्य रहेंगे, उसे सुख और शांति नहीं मिलेगी। हम देखते हैं कि वह भयंकर दरिद्रता का भी शिकार है और लाचार होकर

उसे बहुत ही कम मज़दूरी पर शरीर और मस्तिष्क को खटाना पड़ता है। यद्यपि वह उत्पादन का कार्य करता है, फिर भी उत्पन्न वस्तुओं पर उसका कोई अधिकार नहीं है और वह यह देखकर परेशान रहता है कि पैदा करने पर भी उसका उन चीज़ों पर कोई अधिकार नहीं है और वह उनका उपभोग नहीं कर सकता। यह उत्पादन का गुण समाजवादी व्यवस्था के लिये अत्यावश्यक है। नये समाज के निर्माण में उत्पादन शक्तियों के उपयोग की सख्त ज़रूरत पड़ेगी और वह शक्ति इसमें मौजूद है, जहाँ हम lumpen proletariat में इसका सर्वथा अभाव पाते हैं। इसके बाद हम यह भी देखते हैं कि यह वैयक्तिक सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त है। दिन-भर की मज़दूरी के अतिरिक्त उसके पास कुछ भी नहीं रहता। सिर्फ़ अपने श्रम का ही यह स्वामी है। इसलिये समाजवादी व्यवस्था में—वर्ग-विहीन समाज में जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी, इस वर्ग का मेल खा जाता है और यह वर्ग इसका हामी रहेगा। साथ ही जहाँ हम किसान-वर्ग को देखते हैं कि वह वैयक्तिक सम्पत्ति के बन्धन से जकड़ा रहता है, अतः उस सम्पत्ति के छीन जाने से वह पूरी तरह क्रांतिकारी पार्ट नहीं अदा कर सकता और हर क़दम पर किसान वर्ग को उसका मोह, वैयक्तिक सम्पत्ति के नाश का डर सताता रहता है, वहाँ उस मज़दूर वर्ग को इसका कुछ भी डर नहीं

रहता। इस वर्ग के पास कोई सम्पत्ति ही नहीं है। यह स्थिति सिर्फ़ बम्बई, कानपुर आदि पुराने औद्योगिक नगरों की है। अधिकांश मज़दूरों ने अभी घर नहीं छोड़ा है, जहाँ उनकी ज़मीन है, घर है, सम्पत्ति है। परंतु पूँजीवादी व्यवस्था बड़ी तीव्र गति से इन बचे हुए मज़दूरों की थोड़ी-बहुत सम्पत्ति का विनाश कर रही है। अतः यह निडर होकर क्रांति करता है, जानता है इसे कुछ खोना तो है नहीं। मार्क्स ने कहा है—"They have nothing to lose except their chains." साथ ही उत्पादन के साधनों के पूँजीवादी तरीक़ों ने (बड़ी-बड़ी मिलें, फ़ैक्ट्री आदि) देहातों से मज़दूरों को खींच कर एक जगह इकट्ठा कर दिया है। शुरू-शुरू में तो हम देखते हैं कि यह मज़दूर मिलकर नहीं सोचता है। लेकिन आगे चलकर यह समझता है कि अलग-अलग लड़ाई नहीं ली जा सकती और उनकी समस्याएँ भी अलग-अलग नहीं हैं। सभी की गर्दन पर पूँजीपति की एक ही तलवार बराबर लटकती रहती है—कम मज़दूरी और बर्ख़ास्तगी की तलवार। वह एक साथ ही रहता है उसे मज़दूरी भी एक समान ही मिलती है। फल यह होता है कि वह एक साथ विचार करने लग जाता है और अपनी संस्था (Trade Union) क़ायम कर एक साथ पूँजीपतियों से लड़ने को बाध्य होता है। एक साथ मिलकर उत्पादन करने के अभ्यास के कारण यह अलग-अलग नहीं सोच सकता और चूँकि अब उत्पादन

का कार्य सामाजिक हो गया है, अतः यह किसी व्यक्ति के उत्पादन के साधनों पर अधिकार की बात नहीं सोच सकता है। एक जगह रहने से इनका संगठन भी सुगमता और तेजी के साथ किया जा सकता है। इन्हें राजनीतिक शिक्षा भी आसानी से दी जा सकती है और यह वर्ग किसान वर्ग की अपेक्षा, जो देहातों में रहता है, अधिक चेतन भी रहता है, क्योंकि शहरों की हलचल से यह प्रभावित होता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह मजदूर-वर्ग उन सब गुणों से विभूषित है, जिसके बल पर क्रांति और सामाजिक परिवर्तन किया जा सकता है। इसलिये समाजवादी इस वर्ग को क्रांतिकारी वर्ग कहते हैं और इसके संगठन पर जोर देते हैं। यदि हम चाहते हैं कि इस पूँजीवादी दकियानूसी समाज के स्थान पर सच्ची मानव-सभ्यता का श्रीगणेश करें, तब हमें इस वर्ग में चेतना पैदा करनी चाहिए, क्योंकि यही मजदूर वर्ग क्रांति का अगुवा हो सकता है। हाँ, और वर्गों की सहायता चाहिये, जैसे खासकर किसान वर्ग की।

हम लोगों ने समाज को जिस रूप में यहाँ देखा, उससे पता चलता है कि समाज कई एक वर्गों में विभाजित है, जिनका हित परस्परविरोधी रहता है, और आपस में बराबर संघर्ष चलता रहता है। प्रश्न अब यह उठता है कि क्या समाज में वर्ग-संघर्ष अवश्यम्भावी है? हमारा ख्याल

है कि अब तक तो, आदि साम्यवादी युग को छोड़कर, बराबर वर्गों की लड़ाई होती रही है, कभी छिपकर, कभी इक्के-दुक्के और कभी संगठित रूप में। कभी तो यह लड़ाई शोषित वर्गों की जीत में परिणत होती है, कभी दोनों वर्ग का ख़ातमा होकर नया समाज बनता है। यह सोचना भी मूर्खतापूर्ण है कि वर्गवाले समाज में कभी ऐसा भी समय आवेगा जब वर्गों में संघर्ष नहीं होगा। हम लोगों ने देखा है कि वर्गों की उत्पत्ति ही शोषण के द्वारा आरम्भ होती है। गुलामों का शोषण मालिक करते थे, किसानों का सामंत और आजकल मज़दूरों का शोषण पूँजीपति करते हैं। अतः जब तक वर्ग रहेंगी, संघर्ष आवश्यक है।

साथ ही समाज की उन्नति के लिये भी यह आवश्यक है कि वर्ग-संघर्ष हो और तीव्रतर होता जाय। अभी तक तो हम लोगों ने यही पाया है कि शोषित और शोषक वर्गों का संघर्ष समाज के लिये लाभदायक हुआ है और संघर्ष के बाद समाज का विकास होता है। हालाँकि समाज का विकास सीधे आगे की ओर न होकर पेंचदार गति से ही आगे की ओर बढ़ता है। सवाल है, यह वर्ग-संघर्ष होता ही क्यों है?

वर्गवाले समाज का यह ख़ास रूप है कि एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है और यह शोषक-वर्ग हर तरह के

हथकन्डे काम में लाकर इस बात की कोशिश करता है कि शोषित-वर्ग दबा रहे ; जैसे आजकल पूँजीपति वर्ग मजदूर वर्ग के संगठन, सभा, प्रदर्शन आदि पर राज्य की मदद से रोक लगाता है, अखबारों, नेताओं व किताबों द्वारा अपने पक्ष में प्रचार करवाता है, तरह-तरह के उपायों को काम में लाकर उनके विचारों को भी कुचलता रहता है। परंतु उत्पादन के दौरान में, जैसे आज-कल, एक ऐसा समय आता है, जब उत्पादन करनेवाली शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग उत्पादन के साधनों का स्वामी नहीं करता है। जैसे इन दिनों पश्चिम में अतिरिक्त उत्पादन के नाम पर उत्पादन कम करने का नारा लगाया जाता है, नए-नए आविष्कारों को खरीद कर उनको नष्ट कर दिया जाता है और उत्पादित वस्तुओं को बर्बाद कर दिया जाता है। इसका क्या मतलब हुआ? यही कि उत्पादन के साधनों का स्वामी समाज के उत्पादन शक्तियों का विकास रोकने का प्रयत्न करता है। यहीं पर संघर्ष होता है। मार्क्स ने लिखा है कि क्रांति क्यों होती है? "विकास होते-होते एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब कि समाज के भीतर उत्पादन की भौतिक शक्तियों का उत्पादन के तात्कालिक संबंध—सम्पत्ति के संबंध—के साथ टक्कर होती है। अब तक जो बातें उत्पादन शक्तियों के विकास की सहायक थीं, वही जब उसकी बेड़ी बन जाती है, तब सामाजिक क्रांति का समय आता

है। आर्थिक नींव बदल जाती है; जिसके साथ सारे समाज का ऊपरी ढाँचा परिवर्तित हो जाता है।" इससे यह पता चलता है कि जब आर्थिक सम्बंध में गड़बड़ी होती है, तभी क्रांति होती है। अतः यदि हम तह में बैठकर पता लगायें तो पता चलता है कि हरेक क्रांति अन्त में आर्थिक क्रांति है। सामाजिक क्रांति एक वर्ग के स्थान पर दूसरे वर्ग को अधिकारारूढ़ करती है, जैसे हम लोगों ने पिछले पन्नों में देखा है।

अतः समाज की उन्नति के लिये वर्ग-संघर्ष आवश्यक है। यदि वर्ग-संघर्ष नहीं होगा, यानी उत्पादन शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों के बीच की टक्करें नहीं होंगी तब समाज आगे नहीं बढ़ पायेगा। उत्पादन के ये सम्बन्ध, उत्पादन शक्तियों के विकास में इतनी जबर्दस्त बाधाएँ होती हैं कि यदि समाज को आगे बढ़ना है तो इन्हें तोड़ फेकना ही होगा। यदि इन्हें तोड़ा नहीं गया, तो यह उत्पादन शक्तियों को आगे बढ़ने से रोक देंगे, और, सारा समाज प्रवाह रुकने के कारण, सड़ने या पीछे जाने लगेगा, जिसका अर्थ है पतन की ओर क़दम बढ़ाना। अतः यह संघर्ष मानवी सभ्यता के विकास के लिये आवश्यक है। हमने देखा है कि गुलामों ने मालिकों के साथ संघर्ष किया तो 'अन्धकार युग' आया, फिर बर्बरता से मानो लड़कर सामंत और किसान हुए, फिर दोनों के संघर्ष से पूँजीपति और मज़दूर वर्ग का आविर्भाव हुआ। यदि इन दोनों के बीच संघर्ष नहीं

होता, तो आज रूस में समाजवादी शासन ही नहीं क़ायम हो पाता।

अतः हमें आजकल सबसे अधिक इस पर ध्यान देना है कि जितना ही अधिक वर्ग-संघर्ष बढ़ेगा, हम अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते जायेंगे। कुछ हमारे बड़े-बड़े नेता वर्ग-समन्वय की बातें करते हैं, परंतु हम लोगों ने देखा है कि जब तक वर्ग रहेगा, शोषण रहेगा, और जब शोषण रहेगा ही तब वर्ग-समन्वय किस आधार पर क़ायम होगा? इसलिये हम लोग हमेशा नारा देते हैं, जमींदारी प्रथा नाश हो, पूँजीशाही का नाश हो। परन्तु ये नेतागण चाहते हैं कि हृदय-परिवर्तन द्वारा जमींदारों का हृदय जीत लें यानी जितना वह शोषण करें उसे वह अपने हित में न लगाकर जिनका शोषण करता है, उन्हीं के हित में लगावे। परन्तु यह सम्भव नहीं है। उसे शोषण करने का, दूसरे के परिश्रम से पैदा किये हुए धन का किसी भी प्रकार से उपयोग करने का अधिकार ही क्यों रहे? ऐसे नेतागण व्यक्तिगत सम्पत्ति को एकदम उठा देने के विरोधी हैं और हम देख ही चुके हैं कि इस व्यक्तिगत सम्पत्ति ने क्या-क्या अनर्थ न ढाया और आज भी हमारे विकास के मार्ग में सबसे जबर्दस्त बाधक हैं।

वर्ग-संघर्ष में अन्त में हिंसा की भी जरूरत पड़ेगी, इसे नहीं भुलाया जा सकता। आजकल जो राज्य हैं, वे हिंसा

के ही बल पर चल रहे हैं और अपनी अंतिम घड़ियों में वे भयानक दमन करेंगे। साथ ही जब राज्यों (States) को, इस पूँजीवादी राज्य को ख़त्म कर दिया जायगा, तब भी समाज में उस श्रेणी के अवशेष रहेंगे ही। वे मज़दूर किसानों के राज्य के विरुद्ध तरह-तरह के षड्यंत्र रचेंगे। इसलिये ऐसे लोगों का भी दमन करना होगा और इसमें थोड़ी-बहुत हिंसा हो सकती है। चूँकि उस समय भी समाज में वर्ग बने रहते हैं, अतः dictatorship 'डिक्टेटरशिप' की ज़रूरत पड़ती है। इसलिये नहीं कि किसी वर्ग का शोषण किया जाय। बल्कि इसलिये कि बचे-खुचे अवशिष्ट वर्गों को सदा के लिये ख़त्म कर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की जाय। जब ऐसा समाज हो जायगा तब वर्ग-संघर्ष की भी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। Dictatorship of the proletariat के द्वारा राज्य की सारी सम्पत्ति स्वयं मुरझा जायगी। जैसा ऐंगेल्स ने लिखा है:—Government over persons is replaced by the administration of things and direction of the process of production.

लोग पूछते हैं कि क्या उस समय संघर्ष नहीं रहेगा। मार्क्स का कहना है कि जब उस समय सारे भू-मंडल पर समाजवादी व्यवस्था क़ायम हो जायगी, वर्ग नहीं रहेंगे? देशों की भौगोलिक सीमा भी टूट जायगी, प्रतिस्पर्धा नहीं

रहेगी। सारा संसार परिश्रम (शारीरिक या मानसिक जो भी हो, इसका भी भेद नहीं रहेगा) करनेवालों का एक वृहत् परिवार हो जायगा। हाँ, उस समय भी संघर्ष जारी रहेगा— आपस में, मनुष्य मनुष्य के बीच नहीं—प्राकृतिक शक्तियों से और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये—प्रकृति और मनुष्य के बीच।

पार्टी क्या है ?

अब सवाल उठता है कि यह पार्टी क्या चीज़ है ? क्या वर्ग और पार्टी दोनों एक ही चीज़ हैं, या दो चीज़ें हैं ? क्या पार्टी हुकूमत करती है ? बहुत लोग पार्टी की ज़रूरत नहीं समझते और कहते हैं कि पार्टी नहीं बनानी चाहिये। परंतु मज़दूरों, मेहनतकशों की पार्टी, समाजवादी पार्टी, अन्य पार्टियों से भिन्न चीज़ है। यह अन्य पार्टियों की तरह अपनी ताक़त (power) के लिये नहीं लड़ती है और न इसका लक्ष्य ही यह है। पार्टी की ज़रूरत ही क्यों है ?

शुरू-शुरू में मज़दूर वर्ग और किसान वर्ग शोषित वर्गों दोनों के लिए पार्टी की सख़्त ज़रूरत है। पार्टी उनके बीच के, या उनके सच्चे हमदर्दों की ऐसी जमात से बनती है, जो शोषित वर्ग में चेतना पैदा करते हैं, उन्हें संगठित करते हैं, उनकी दैनिक लड़ाइयों में सहयोग देते हैं और अन्त में शांति के समय तथा उसके बाद भी कुछ समय

तक उनका नेतृत्व करते हैं, उसे राह दिखाते हैं; चूँकि शोषित वर्ग शुरू-शुरू में अनपढ़, अशिक्षित और संगठन के तौर-तरीक़ों से अनभिज्ञ रहता है, इसलिए पार्टी की जरूरत पड़ती है। साथ ही जिस प्रकार समाज में वर्ग-संघर्ष होता रहता है और उसके लिए राज्य की जरूरत भी पड़ती है, उसी तरह शुरू-शुरू में शोषित वर्ग के लोगों में भी मिल्लत नहीं रहती है, और वे अपने दुश्मनों से लड़ने के लिए अपनी शक्ति मजबूत न कर बहुधा आपस में लड़ते रहते हैं। साथ ही उनमें दूरदर्शिता का भी अभाव रहता है। पूँजीपतियों के एजेन्ट, कुछ ऐसे मजदूर भी, जिन्हें पूँजीपति रुपये देकर खरीदता है, अपने वर्ग के स्वार्थ को भूलकर अपने अस्थायी और तात्कालिक लाभ के लिये शोषितों में फूट डालते रहते हैं। अतः पार्टी की आवश्यकता होती है कि ऐसे लोगों के संसर्ग से उनके संगठन को बचाये रक्खे और शत्रु और मित्र की पहचान कराती रहे।

पार्टी, मजदूरों का हथियार है, Vanguard है, आगे रहनेवाला दल है, उनकी लड़ाई को सफलता-पूर्वक चलाने के लिये उनकी कार्यकारिणी working committee है। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसी हालत में अन्य लोगों पर पार्टी का प्राधान्य (domination) हो जाता है और पार्टी शासन करने लग जाती है। ठीक है, परंतु उसी तरह जिस तरह

शरीर को ठीक राह पर चलाने के लिए मस्तिष्क की जरूरत पड़ती है यानी पार्टी शोषित वर्गों का मस्तिष्क है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि पार्टी उन पर लाद दी जाती है। यह भी ग़लत है। जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर की उपज है, उसी प्रकार पार्टी शोषित वर्ग की उपज है यानी शरीर के रहने पर ही मस्तिष्क की स्थिति है। और यह मस्तिष्क क्या है? शरीर-संगठन का ही एक विकसित अंग-मात्र है। उसी प्रकार पार्टी शोषित वर्गों के संगठन का विकसित रूप है। यह उन्हीं में है और जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर से अलग नहीं है, या अलग से शरीर में नहीं डाल दिया गया है, उसी प्रकार यह भी शोषित वर्गों के ऊपर से नहीं लादी गई है बल्कि उसी के साथ है।

पार्टी के जीवन का लक्षण यही है कि उसका प्रभाव शोषित वर्गों के हरएक व्यक्ति पर समान रूप से हो, यानी सभी को वह संगठित कर सके और उन्हें जागृत करे। उसकी तरक्क़ी की यही पहचान है कि उसका सम्बन्ध शोषित वर्गों से कैसा है, यानी उसके कितने मेम्बर हैं, जिन्हें पूरी चेतना हो चुकी है। साथ ही उनका पार्टी से बाहर के मजदूरों से कैसा सम्बन्ध है, यानी उन पर कैसा प्रभाव है। इन सब बातों को हमें ख़्याल रखना चाहिये।

पार्टी में भी सभी लोग एक ही विचार या मेधा के नहीं होते, अर्थात् सभी एक कोटि में नहीं आ सकते। कोई

ज़्यादा चेतन होते हैं, कोई कम। इसलिये पार्टी में भी नेतृत्व की ज़रूरत पड़ती है और जिनमें इतनी शक्ति रहती है कि वे पार्टी के मस्तिष्क होते हैं। संसार में समाजवादी शासन की स्थापना हो जाने पर भी जब तक यह विभिन्नता रहेगी, अर्थात् कोई कम चेतन और ज़्यादा, तब तक पार्टी की और पार्टी के नेताओं की ज़रूरत रहेगी। हाँ, जब ऐसी अवस्था आ जायगी, तब सभी (एकाध को छोड़कर) पूर्ण चेतन हो जायँगे, तब इसकी भी ज़रूरत नहीं रह जायगी। न पार्टी रहेगी, और न राज्य (state)। सम्भवतः गांधीजी भी ऐसे ही समाज की कल्पना करते हैं।

अब एक प्रश्न उठता है कि कहीं ऐसा न हो कि शासन-व्यवस्था अपने हाथों में लेने पर पार्टी ही लोगों का शोषण करने लगे। परंतु ऐसा नहीं हो सकता। एक तो उसमें ख़ास कर, उसके मुख्य कर्णधार ऐसा नहीं कर सकते और वे ऐसा करें भी तो पार्टी के अन्य मेम्बर ऐसा नहीं होने देंगे। यदि मान लें कि समूची पार्टी ही ऐसी हो जाय, स्वार्थी और अदूरदर्शी हो जाय, तो फिर वर्ग-विभेद हो जायगा, जिसका लाज़िमी नतीजा होगा वर्ग-संघर्ष और पुनः क्रांति और उसके बाद वर्ग-विहीन समाज की फिर से स्थापना। इसलिये फिर जो लोग आयेंगे, वे इस बात के लिये सावधान ज़रूर रहेंगे। इसकी कसौटी भी है। जब पार्टी अधिकारारूढ़ हो जाय,

तब देखना चाहिये कि उसका प्रोग्राम कैसा है। नतीजों के देखने ही से इसका पता चल जायगा। यदि कोई ख़ास प्रोग्राम को अपनाने के कारण पार्टी अपने लक्ष्य की ओर आगे नहीं बढ़ रही है, तब वह पार्टी को वह प्रोग्राम बदल देना होगा और यदि पार्टी नहीं बदलती है तो उसके विरुद्ध फिर क्रांति हो जायगी, समाज की अग्रगामी शक्तियाँ उसे पीछे ढकेल कर आगे बढ़ जायँगी।

आख़िर को एक ऐसा समाज आयेगा, जब सभी अपनी कार्य-कुशलता को बढ़ाकर प्रकृति पर विजय प्राप्त कर पूर्णावस्था को प्राप्त होंगे। तब मानव-समाज सही माने में समाज कहलाने का दावा कर सकेगा।

यह कोई निरी भावुकता या कोरी कल्पना ही नहीं है। आप ख़्याल करें कि यह पृथ्वी पहले जलती हुई तरल पदार्थ थी। फिर छोटे-छोटे जीव हुए, मछली, मेढक हुए, धीरे-धीरे कालांतर में बन्दर हुआ, बनमानुष (ape) हुआ, तब जंगली आदमी। तब से तरक़्क़ी करते-करते हम आज इस अवस्था में पहुँच गये हैं और यह निश्चय है कि मानव का अभी और भी विकास होना है। पहले लोग समाजवाद को भी स्वप्न (utopia) समझते थे। परन्तु जब संसार के छठे भाग पर यह क़ायम किया गया, तब लोगों ने मार्क्स के कथन की सत्यता महसूस की। हाँ, समय लग सकता है। पर यह भी हम लोगों की कार्य-कुशलता पर

निर्भर करता है। अतः यदि हम शीघ्र ही एक सच्चे समाज की स्थापना चाहते हैं तो मार्क्स के विचारों का गहरा अध्ययन करें और इस सुंदर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जी तोड़ परिश्रम करें।

सोशलिस्ट पार्टी

की

नवप्रकाशित पुस्तकें

१. समाजवाद लक्ष्य तथा साधन—लेखक आचार्य नरेन्द्र देव ॥)

२. किसानों का सवाल—लेखक आचार्य नरेन्द्र देव ।)

३. मार्क्स और मार्क्सवाद—अनुवादक श्री वी० पी० सिन्हा ।)

४. सामाजिक विकास का समाजवादी विश्लेषण } ले० श्री मुकुट बिहारीलाल =)

५. The Socialist Way—by Shri Jayaprakash Nara ... 2 As.

६. Under the Socialist Banner } by B.P. Sinha ... 12 „

७. समाजवाद—नीति तथा रीति—ले० श्री वी० पी० सिन्हा ॥)

८. रूस की क्रांति—लेखक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

९. Towards Socialism—by Shri Jayaprakash Narayan ... 6 As.

मिलने का पता—
मैनेजर 'संघर्ष'
पानदरीबा, लखनऊ